रश्मिरेखा

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

रश्मि-रेखा

गी
त
सं
ग्र
ह

विक्रमाब्द २००८ सन् १९५१
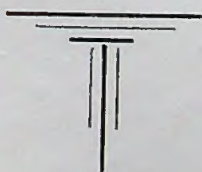
मूल्य चार रुपया

प्रकाशक—
साधना प्रकाशन, कानपुर
मुद्रक—
राधेमोहन मेहरा, साधना प्रेस, कानपुर

आयुष्मान् हरिशङ्कर विद्यार्थी को—

प्यारे हरि,

यह मेरा एक गीत संग्रह है ।
यह तुम्हें समर्पित है ।
तुम्हारा-मेरा आत्मिक सम्बन्ध है ।
उसके लिये मैं क्या कहूँ ?
तुमसे पराजित होने की इच्छा है
और वह सदा रहेगी भी ।
गद्य-लेखन में तुमसे पराजित होकर
मैं धन्य हुआ हूँ ।
अपनी शैली, अपनी भाषा,
अपने विचार, अपने भाव,
अपनी अभिव्यक्ति-प्रणाली,
सब में तुम अनोखे हो ।
यदि तुम तुकें जोड़ने के अभ्यासी होते,
तो निश्चय ही काव्य-क्षेत्र में भी
तुमसे पराजित होकर मैं सुखी होता ।
इन गीतों को स्वीकार करो ।

तुम्हारा
बालकृष्ण शर्मा

पराचः कामाननुयन्ति बालाः

मेरी तुकबन्दियों का यह एक संग्रह है। अनेक मित्र कहते हैं : तुम दीर्घसूत्री हो। वे ठीक कहते हैं। प्रत्यक्षतः कर्ममय जीवन होते हुए भी, मैं यथार्थ में प्रमादी और दीर्घ सूत्री हूँ। तीस-पैंतीस वर्षों से लिख रहा हूँ। मित्रों ने मेरे लिखे को नितान्त निरर्थक माना हो, सो बात भी नहीं है। फिर भी, अवस्था यह है कि मेरी अपनी कृति के रूप में किसी के हाथ कुछ नहीं लगता। अब यह संग्रह सामने आ रहा है। इसमें मेरे गीतों का ही समावेश है। अन्य और दो ग्रन्थ, इसी प्रकार गीतों के निकल रहे हैं। ज्ञात नहीं, हिन्दी भाषा भाषियों को ये गीत जँचेंगे भी, या नहीं। मैं इनके विषय में क्या कहूँ? भले-बुरे, जैसे हैं, वैसे हैं।

तुलसी बाबा कह गए हैं—निज कवित्त केहि लाग न नीका? मैं उनके कथन को दुलखूँ, इतनी धृष्टता तो नहीं करूँगा; पर, इतना तो मैं कह दूँ कि मुझे अपने गीतों या अपनी कविताओं से वह तुष्टि नहीं मिली जो मैं चाहता हूँ। जीवन में आत्मतृप्ति का अभाव कदाचित रहता ही है। यदि यह न रहे तो मनुष्य पूर्ण काम हीन हो जाय? हाँ, आत्म-सन्तुष्ट होने की जो एक आशा है, जो एक चटपटी है, वह जीवन को, प्रमाद, आलस्य और निद्रा की व्याधियों के रहते हुए भी, चलाए जाती है। इसीलिए ऐसा है कि :

ढचर-ढचर चलती जाती है मेरी टूटी गाड़ी,
यद्यपि—जर्जर हुई आज मम नस-नस, नाड़ी-नाड़ी।

क्या वह शान्ति, वह आत्म-तोष मुझ जैसों को उपलब्ध है? व्यास की कथा प्रसिद्ध है। अष्टादश पुराणों के निर्माण के उपरान्त भी उन्हें तोष नहीं मिला। तब उन्हें श्रीमद्भागवत के प्रणयन की प्रेरणा हुई। तदुपरांत वे पूर्णकाम हुए। मुझमें वह शक्ति नहीं—न आत्मिक, न बौद्धिक, न कलाकुशलत्वमयी—कि स्व-अभिव्यक्ति को मैं परम भागवत-स्वरूप दे सकूँ। इस कारण, ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् जीवन प्यास में ही कट जाय। पर, प्यास लगी रहना, वारि-विराग से तो श्रेष्ठतर ही है न?

आज के इस आस्था शून्य युग में अनदेखे की टोह मृत प्राय हो गई है। जीवन के क्षेत्र को हम केवल प्रत्यक्ष की परिखा से सीमित कर बैठे हैं। अप्रत्यक्ष

को हमारी प्यास बुझ गई है। यदि अप्रत्यक्ष को पिपासा लगी रहती, तो जग-जीवन इतना विशृङ्खल, इतना उन्मत्त, इतना स्वनाशोन्मुख न होता। हम उस आर्षवचन को भूल गए, जो अनन्त के अभ्यासी नचिकेता ने अपने संवेदनशील मन की गहराई से उद्गीरित किया था और जिस वचन में मानव के युग-युग के अनुभव का सार भरा हुआ है। आचार्य प्रवर गुरुदेव यम से नचिकेता ने कहा था : न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। मनुष्य धन से तृप्त नहीं होता, धन मात्र से ही, वैभव से, वित्त से ही उसको तृप्ति नहीं होती; तृप्ति के लिये तो पर पार की पिपासा लगनी चाहिये और उसकी पूर्ति होनी चाहिये। जन-जीवन में वह प्यास लगे— ऐसी मेरी इच्छा है। यदि वह तृषा जगी तो धन की भूख—अर्थात् समाज को, मानव को, अपने आपको चबाकर निगल जाने की यह राक्षसी भूख—मिट जायगी और इस प्रकार जीवन में संतुलन का आविर्भाव होगा।

क्या मेरे ये गीत उस प्यास को जगाने में सहायक हैं? यदि किसी भी परिमाण में और किसी भी सीमा तक ये गीत मानव को उस ओर झुकाते हैं तो उस परिमाण और सीमा तक ये उपादेय कहे जा सकते हैं। पाठक पूछ सकते हैं : तो क्या तेरे ये गीत प्यास लगाने के लिये ही हैं? क्या ये आनन्द देने के लिये नहीं हैं? मैं पूछता हूं : क्या प्यास लगने में केवल व्यथा—अनुभव मात्र ही है! क्या उसमें—उस प्यास लगने की क्रिया में,—जल-प्राप्ति का प्रयत्न-आनन्द नहीं है? क्या यह सत्य नहीं है कि वेदना और व्यथा—यदि वह श्रेय की प्राप्ति के लिये हो, तो—आनन्द शून्य नहीं होती? श्रेय ही क्यों, प्रिय-प्रेय की प्राप्ति की व्यथा में भी आनन्द का पुट रहता ही है।

पर, मेरे गीत क्या शाश्वत टोह को, श्रेय की प्यास को, जाग्रत करते हैं? आलोचक पाठक मेरे गीतों को पढ़कर कह उठेंगे—ये तो मृत्तिका की गुड़ियों के गीत हैं। ठीक तो है। परंतु, यह भी सत्य है कि वहाँ, सूली ऊपर, पिया की जो सेज है, उस तक पहुँचने के लिये हमें मृत्तिका के सोपान ही मिले हैं। ये इन्द्रिय-उपकरण, यह पंचमहाभूतात्मक देह, यह मन, यह प्राण, ये सब भी तो मृत्तिका-संभूत ही हैं न? और, इन्हीं उपकरणों के बल यह देह बद्ध देही विदेहत्व, बुद्धत्व और ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। कठोपनिषत्कार ने कहा है "पराचः कामान् अनुयन्ति बालाः।" बालकगण, अर्थात् निर्बुद्धिजन, बाह्य कामनाओं—केवल मात्र इन्द्रिय सुखों और भौतिक वस्तुओं—का अनुगमन करते हैं; उन्हें ही पाने में अपना जीवन बिता देते हैं। किन्तु जो इस प्रकार—केवल

वहिर्मुख-जीवन-यापन करते हैं, उपनिषत्कार के शब्दों में "ते मृत्योर्यन्ति विततस्यपाशम्"—वे सर्वव्यापिनी मृत्यु के पाश में आ जाते हैं। आज का जग विततस्य मृत्योः पाशम्—फैली हुई, विस्तृत मृत्यु के पाश में फंसा हुआ है। वहिर्मुखी वृत्ति ने संसार की यह गति बना दी। किन्तु जो मैं कह चुका हूँ, इसी मृत्तिका के पुतले ने एक दिन बुद्धत्व, एक दिन गान्धीत्व प्राप्त किया था।

यम के शब्दों में ये अनित्य द्रव्य ही नित्य की प्राप्ति करा देते हैं। यम ने तो गर्व के साथ नचिकेता से कहा—अनित्यैः द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्—मैंने अनित्य द्रव्यों से ही नित्य को प्राप्त किया है ? इसमें आश्चर्य ही क्या ? यदि संतुलित रखने से ये अनित्य इंद्रियाँ मानवता को गान्धीत्व और बुद्धत्व प्रदान कर सकती हैं, तो मेरे गीत, जो आलोचक की दृष्टि में मृत्तिका की मूर्ती के लिये गाए गए गीत हैं, क्यों न करुणा, प्रेम, सर्वभूत हित-रति और स्वार्थ समर्पण की भावना जागृत कर सकें ? हाँ, उनका वह सामर्थ्य इस बात पर अवलम्बित है कि मैं स्वयं अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति में कहाँतक सदाशयी और सदाश्रयी रहा हूँ। यों, कला की दृष्टि से पाठक को मेरे गीतों में दोष मिल सकते हैं। किन्तु मेरी भावना की सदाशयता का जहाँतक संबंध है, तहाँ तक कलाविज्ञों को उसमें सन्देह करने का अवसर न मिलेगा।

अपनी कृतियों को आलोचक की दृष्टि से देख सकना सरल काम नहीं है। इसलिये मैं यह कैसे कहूँ कि मेरे गीत शाश्वत रूपेण मूल्यवान् हैं ? वर्तमान समय में आलोचना के भी अनेक मान-दण्ड निर्मित हुए हैं। मेरे निकट सत् साहित्य का एक ही मानदण्ड है : वह यह कि किस सीमा तक कोई साहित्यिक कृति मानव को उच्चतर, सुन्दरतर, अधिक परिष्कृत एवं समर्थ बनाती है। वही साहित्य सत् है, वही साहित्य कल्याणकारी एवं सुन्दर है जो मानव को स्नेहमय, श्रद्धाभरित, विचारवान् तथा चिन्तनशील बनाता है। वही साहित्य सत् है जो मानव में निरलस एवं निस्वार्थ कर्म रति जागृत करता है। वही साहित्य सत् है जो मानव को सर्वभूत-हित की ओर प्रवृत्त करता है। वही साहित्य सत् है जो मानवीय संकुचित वृत्तियों को अतिक्रमित करने तथा मानव 'स्व' को विस्तृत करने में मानव का सहायक होता है। यह संभव है कि मैं इस कोटि के सत् साहित्य का सृजन नहीं कर सका हूँ। यह भी संभव है कि मेरे गीतों तथा मेरी कविताओं में वासना की गन्ध मिले। पर, मैं इतना निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मेरी कृत्तियों की 'अनित्य द्रव्यता' के पीछे 'नित्यता' की छाया रही है।

और, मैं अपने आपको धन्य एवं पूर्ण काम मानूँगा, यदि किसी दिन मैं यम के शब्दों में कह सकूँ कि "अनित्यैः द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् !" इस जन्म में, इस तामस तथा प्रमादालस्य निद्राबद्ध स्वभाव को लेकर, उस स्थिति तक पहुँचना संभव नहीं है। पर अनेक जन्म और अनवरत प्रयत्न में विश्वास करनेवाला जन निराश क्यों हो ? यात्रा पथ लंबा है; दुरत्यय है। ध्येय आँखों के ओझल है। पर; 'इतना जानूँ हूँ कि कहीं है मंज़िल हिय-ठकुरानी की !'

श्री गणेश कुटीर
कानपुर
दिनाङ्क २ अगस्त, '५१

बालकृष्ण शर्मा

गीत काव्य और बालकृष्ण शर्मा

प्रस्तुत संग्रह भाई बालकृष्ण के गीतों का संग्रह है। कदाचित 'कुंकुम' के बाद उनकी यह दूसरी संग्रह-पुस्तक है। अपनी कृतियों को प्रकाशित करने का उनसे हम लोगों का बड़ा आग्रह रहा है और ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया है।

पाश्चात्य समीक्षकों ने गीतों के संबंध में बड़ी मीमांसा की है। किसी परिस्थिति, किसी भाव, किसी प्राण सम्पन्न विचार, किसी रूप व्यापार पर कुछ ऐसी गेय पंक्तियाँ, जो निज में पूर्ण और कवि के व्यक्तित्व में सनी रहती हैं गीत कहलाती हैं। उनका प्रथम और मूल तत्व संगीत है। समीक्षकों का यह भी निष्कर्ष है कि जब कवि बाह्यार्थों से हट कर आभ्यंतर की अनुभूतियों का गान गाने लगता है तब गीतों की सृष्टि होती है। इस कविता को उन्होंने स्वानुभूति निरूपिणी (Subjective) कहा है और अन्य को बाह्यार्थ-निरूपिणी (Objective) कहा गया है। उनके कथनानुसार समस्त गीत-काव्य स्वानुभूतिनिरूपक होता है। अंग्रेज समीक्षक बहुधा नाम की सृष्टि करके उसके चारों ओर अपनी व्याख्या पहनाने का प्रयत्न करता है। उस नाम का चलन कुछ समय तक रहता है और बाद का समीक्षक उसका खंडन-मंडन करता रहता है।

काव्य को बाह्यार्थनिरूपक और स्वानुभूतिनिरूपक दो वर्गों में बाँट देना स्थूल बुद्धि का काम है। कविता फोटो की भाँति बाह्यार्थों को अथवा दृश्य जगत के रूप व्यापारों को बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से सामने नहीं रखती। अन्यथा वह ललित कला न रह जायगी। बाह्यार्थों और बाह्यरूप व्यापारों की जो अनुभूतियाँ कलाकार के रागात्मक मन में अंकित होती रहती हैं उन्हें वह सामने रखता है। अतएव कविता प्रबंध के रूप में हो अथवा मुक्तक के रूप में हो वह तो स्वानुभूतिनिरूपिणी होगी ही। यह दूसरी बात है कि कवि स्वयं प्रथम पुरुष का रूप देकर अदृश्य रहे अथवा उत्तम पुरुष का रूप देकर सामने आवे। यह तो केवल लिखने की मौज है। इससे गीत काव्य से कोई प्रयोजन नहीं है। गोस्वामी जी ने 'विनय पत्रिका' भी लिखी है जिसका कवि उत्तम पुरुष में है और

'राम गीतावली' 'कृष्ण गीतावली' भी लिखी है जिसका कवि अन्य पुरुष में अदृश्य है। 'साकेत' के नवें सर्ग में उर्मिला के भी गीत हैं और 'द्वापर' में भी गीत हैं। परंतु उनमें उत्तम पुरुष वाली शैली नहीं है। 'भारत भारती' में अन्य पुरुष का अदृश्य रूप नहीं है।

वास्तव में, पूर्ण रूप से; अदृश्य कवि तभी रह सकता है जब वह या तो नाटक लिखे या कोई प्रबंध काव्य लिखे। परंतु बड़े-बड़े प्रबंध काव्यों के भीतर भी बीच-बीच की पंक्तियों में वह खुल जाता है; नाटकों के पात्रों में भी उसका लगाव सामने आ जाता है। यह उसकी कला की दुर्बलता भले ही कही जा सके परंतु बड़ी-बड़ी सम्मान्य कृतियों में भी यह असावधानी उपस्थित है। अपनी अनुभूतियां पर आधारित अपने बलवान मंतव्यों से अपनी पंक्तियां को बचाये रखना बड़े संयम की बात है। मंतव्यों और मान्यताओं की ओर, परोक्ष भाव से, तटस्थरूपेण, वस्तु को मोड़ना एक ऊँची कला अवश्य है। अन्यथा कवि की देन का मौलिक मूल्य ही कुछ न रह जायगा। इस ऊहापोह को केवल इसलिये किया गया है कि स्वानुभूति और वाह्यार्थ विभेद मौलिक नहीं है। उन्हें केवल स्थूल भेद समझना चाहिए।

पाश्चात्य समीक्षकों ने एक बात और कही है। वे कहते हैं कि कवि के विकसित रूप, परिपक्व रूप, पूर्ण रूप की देन 'गीत' हुआ करते हैं। अनुभूतियां का संग्रहालय जब इतना पूर्ण हो जाता है कि वह कवि में अट नहीं पाता तो वह गीतां में छलक पड़ता है। अनुभूतियों की यह कोष-वृद्धि आयु के उतार के साथ ही सम्भव है। अतएव गीतों की सृष्टि भी कवि के अंतिम युग की देन होती है। आरम्भ प्रबंध काव्य अथवा अन्य प्रकार के काव्यों से होता है और अंत गीतां से किया जाता है। कवि स्वयं किसी आकार-प्रकार के बंधन से बंधा नहीं समझता। उन्मुक्त हो कर उत्तम पुरुष की उन्मत्त शैली में गाने लगता है। यह कवि जीवन का इतिहास है।

यह सत्य है कि अनुभूतियों की अमीरी आयु के विस्तार के साथ आती है और यह भी सत्य है कि कवि अपने परिपक्व जीवन में आकार बोधिनी सीमाओं की परवाह नहीं करता। उसी प्रकार यह भी सत्य है कि गीत तत्व प्रौढ़ जीवन में अधिक अधिकार कर लेता है। परंतु यह सत्य नहीं है कि प्रौढ़ जीवन में ही गीत लिखे जाते हैं अथवा प्रौढ़ जीवन में गीत लिखने का केवल यही कारण है, अथवा सभी कलाकार गीत ही अंत में लिखते हैं प्रबंध नहीं लिखते। यह भी पूर्ण रूप से सत्य नहीं कि अनुभूतियां की बाढ़ के कारण हमेशा प्रबंध काव्य से

आरम्भ करके कवि गीतों से अंत करता है। अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी, जर्मन इत्यादि सभी भाषाओं के इतिहास से पता चलता है कि बहुत से ऐसे ऊँचे कलाकार हैं जिन्होंने कभी गीत लिखे ही नहीं और बहुत से ऐसे हैं जिन्होंने गीतों के अतिरिक्त कुछ नहीं लिखा। संस्कृत भाषा में तो प्रबंधों की इतनी भरमार है कि गीतों का साहित्य में कोई विशेष मूल्य ही नहीं है। सारे चोटी पर के कलाकारों ने प्रबंध ही लिखे हैं। हिंदी में भी केवल गीत लिखने वाले अथवा केवल प्रबंध लिखने वाले अथवा दोनों लिखने वाले जिनके लेखन इतिहास का क्रम पहले प्रबंध और फिर गीत नहीं है, बहुत मिल जायँगे। कविवर मैथिली शरण जी ने 'भारत भारती' कदाचित् अपने सब प्रबंध काव्यों से पहले लिखी है। 'वैदेही वनवास' हरिऔध जी ने बहुत से गीतों के बाद लिखा है।

फिर भी पाश्चात्य समीक्षकों के निष्कर्ष में आंशिक सत्य अवश्य है। परंतु उसका कारण कहीं और है। विश्व की समस्त भाषाओं में जिन कृतियों का सार्वभौमिक और सर्वकालीन आदर है और जिन्हें उदात्त साहित्य (Classic Literature) कहते हैं वे प्रबंध के रूप में ही अधिक हैं। प्रबंधों में वर्णन द्वारा जो विश्व की महान् योजना उपस्थित की जाती है उसकी विशालता, संकुलता, प्रभविष्णुता, अनेकार्थता तथा उदात्त कामना का प्रभाव बड़ा व्यापक और गहन पड़ता है। परंतु महाकाव्य की महान योजना और वर्णन-चातुर्य के लम्बे तनाव की साधना सरल नहीं है। उसके लिये अनुभूतियों की अनेकरूपता और भावना की गहनता तो चाहिए ही, बुद्धि और कल्पना का विस्तृत प्रयोग भी चाहिए जिससे कथा वस्तु का विस्तार, घटनाचक्र की सजावट, चरित्र निर्माण-कार्य, घात-प्रतिघात और अंतर्द्वंद्व के सहारे एक महान् पृष्ठ भूमि के भीतर विभिन्न और अनेकार्थी रसों के नाना रंगों में चमक सके। कलाकार का निर्माण कार्य इतना वृहद् हो जाता है कि उसको बड़ा चौकस और सतत जागरूक रहना पड़ता है। उसके ताने-बाने का प्रत्येक सूत्र उसके समक्ष रहता है और कहीं कोई भी उलझने नहीं पाता। यह समस्त कार्य बड़े अध्यवसाय, परिश्रम और जागरूकता की अपेक्षा करता है, जो आयु के उतार में शिथिल चेतना कर नहीं पाती अथवा ऐहिक थकावट के कारण करना भी नहीं चाहती। अतएव अपनी देन को छोटे-छोटे टुकड़ों में सामने रखती है। ये गीत का रूप ग्रहण करते हैं। गीतों के जीवन के अवसान काल में प्रकट होने का सबसे महान कारण यही है। साहित्यिक जीवन का मेरा भी यही अनुभव है।

मैंने गीत नहीं लिखे परंतु अपनी बात और अपने अनुभवों को एक लम्बे तनाव के भीतर किसी बड़े आकार-प्रकार में सामने रखने में श्लथ और कातरता मालूम होती है। आयु के उतार में तत्परता और चौकन्नापन के लिये बुद्धि जल्दी से प्रस्तुत नहीं होती यद्यपि उसकी अनिवार्य आवश्यकता एक महान काव्य में पड़ती है।

कुछ लोगों का यह भ्रम है कि गीतों का कार्य अत्यंत संक्षेप रूप में किसी तथ्य को सामने रखना है। गीतों में गेय तत्व को ही प्रधानता होनी चाहिए। उसमें संक्षिप्त करने की कला अपेक्षित नहीं है। तथ्य के आकार का छोटा होना दूसरी बात है और बड़े तथ्य को छोटे करने का प्रयास करना दूसरी बात है। गीत लम्बे और बड़े भी हो सकते हैं। वर्तमान कवियों के बड़े लम्बे-लम्बे गीत देखे गये हैं। परंतु गीत एक सीमा से बड़े नहीं हो सकते। संगीत के अंक में बधा हुआ तथ्य उतने ही काल तक मन पर प्रभाव डाले रह सकता है जितने समय तक श्रोता संगीत मय रह सके और तथ्य उचट न जाय। गीत में एक तथ्य के साथ-साथ एक ही निवेदन, एक ही रस, एक ही परिपाटी होती है। उसका प्रवेश भी एक ही प्रकार का होता है। अतएव वह मन को केवल कुछ समय तक के ही लिये अपनाए रह सकता है। बस गीत की लम्बाई भी उतनी ही होनी चाहिए जितनी उसकी रमण-उपयोगिता है।

गीतों में इधर दार्शनिक चिंतना का समावेश अधिकाधिक हो रहा है। जहाँ एक ओर विचार के किरकिरे अंतराय आ जाने से संगीत-रस कुछ धीमा पड़ जाता है वहाँ दूसरी ओर केवल संगीत के सहारे चलने वाले गीतों से अलग हट कर नये प्रकार के गीतों का श्री गणेश हिंदी शुभ लक्षण है। चिंतना काव्य से सोहागिल भी हो जाती है और उसे बिगाड़ भी देती है। यदि कोई विचार खण्ड कवि को आत्मसात नहीं हुआ है; यदि कोई मानसिक प्रत्यय कवि में भावमय हो कर घुलमिल नहीं गया है तो ऐसे चित्र सामने नहीं आ सकते जिनमें घुलावट हो। वह केवल गद्यमय तुकबंदी सामने रख सकेगा। भावुकता में डूबी हुई चिंतना ही किसी गीत का विषय हो सकता है। इसके लिये समय की अपेक्षा होती है। जिस प्रकार युगों के साथी होने के कारण, चांदनी, झरने, हरी वनस्थली, चंद्र, सूर्य और अपनी अनेकार्थी भावुकता के साथ मानव हमारे पुराने साथी हैं और हम इनका रागमय वर्णन सामने रख सकते हैं उस प्रकार और उस घुलावट के साथ हम आज के बिजली का पंखा, रफ्रीजरेटर, फाउण्टेन पेन, अटैची केस, बाईसिकल इत्यादि-

इत्यादि के अपर्याप्त सहवास से यथेष्ट भावमयता के अभाव में उत्तम चित्र सामने नहीं रख सकते। जो बात रूप-व्यापारों की है वही बात चिंतना के प्रत्ययों की है। पर्याप्त समय के अभाव में वे भाव जगत में घुल मिल नहीं पाते अतएव किसी गीत को वे कच्चे विचार काव्य नहीं बना सकते।

बालकृष्ण इस दोष से बरी हैं। उनमें अभिव्यंजन का कैतव भी नहीं है। उनमें कथन की सुंदरता, संवेदनात्मक ही है, परंतु वे छायावाद से दूर ही हैं। 'उलझी हुई सरलता' एक स्थान पर उन्होंने अवश्य लिखा है परंतु ऐसे वाक्य कम हैं। समासोक्ति तथा अन्योक्ति का पुराना प्रयोग भी उनमें नहीं है। चिंतना खंड दुरूह नहीं है। विचारों के स्वरूप सरल और बोधगम्य हैं। प्रश्नवाचक वाक्यों में कुछ प्रश्नों को कितनी मार्मिकता से रक्खा गया है—

शब्द-स्पर्श-रूप-गन्ध-रस-वश है क्या जीवन ?
संवेदन-पुन्ज-रूप हैं क्या हम सब जग-जन ?
अमल अतीन्द्रिता है क्या केवल भ्रम, साजन ?
अपनी सेन्द्रियता क्या मनुज सकेगा न त्याग ?
प्रियतम, तव अंग-राग !

इसके प्रश्न प्रत्येक चिंतनशील प्राणी के शाश्वत प्रश्न हैं। वास्तव में 'अपनी सेन्द्रियता' त्यागना मानव के लिए दुस्तर है।

"यततोऽपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः"

अर्जुन कुंती पुत्र थे; मानव मर्त्य स्त्री की संतान जो है।

और आगे देखिये—

अन्तर में जलता है जो यह चेतना-दीप,
जिसकी ऊष्मा से हैं कुसुमित उपकरण-नीप,
सेन्द्रियता कब आई उस दीपक के समीप ?
उस निर्गुण का गुण है पूर्ण मुक्ति, चिर विराग !
प्रियतम, तव अंग-राग !

भविष्य के सुयोग के लिये; जीवन के मंगल के लिये, 'ऊर्ध्व गमन' के लिए कितनी सुंदर प्रार्थना है। इसमें कोरी आकांक्षा नहीं है साहित्यिक प्रतिष्ठा भी है—

इस सूखे अग-जग-मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस निर्झर,
अपनी मधुर अमिय धारा से प्लावित कर दो सकल चराचर;

(१)

ना जाने कितने युग-युग से प्यासे हैं जीवन-सिकता-कण,
मन्वन्तर से अंतरतर में होता है उद्दाम तृषा-रण;
निपट पिपासाकुल जड़-जंगम, प्यास भरे जगती के लोचन,
शुष्क कण्ठ, रसहीन जीह, मुख; रुद्ध प्राण, संतप्त हृदय मन;
मेटो प्यास-त्रास जीवन का; लहरे चेतन सिहर-सिहर कर,
इस सूखे अग-जग-मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस निर्झर !

(२)

इतनी रस-शून्यता दानवी जग-जीवन में कैसे आई ?
ज्वालामुखियों की ये लपटें जग-मग में किसने भड़काईं ?
पढ़ा सृजन का पाठ प्रकृति ने ! अहं भावना तब उठ धाई,
अरे, उसी क्षण से कण-कण में मृषा-तृषा यह आन समाई !
फैले अनहंकार भावना, मिटे संकुचित सीमा-अन्तर,
इस सूखे अग-जग-मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस निर्झर !

(३)

आज शिंजिनी आत्मार्पण की चढ़ जाए जीवन-अजगव पर,
ऊर्ध्व लक्ष्य-वेधन-हित छूटें बलिदानों के नित नव-नव शर,
क्रतुमय अमृत-कुम्भ बिंध जाये, जब हो इन बाणों की सर-सर

शत सहस्र मधु-रस-धाराएँ बरस उठें सहसा झर-झर कर;
हो शवलित वसुधा-अलम्बुषा; मुदमय नृत्य कर उठे थर-थर,
इस सूखे अग-जग-मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस निर्झर !

"ऊर्ध्व लक्ष्य भेदन" वास्तव में प्रधान उत्पीड़न है।

आगे देखिये—ससीम में निस्सीम को कैसे अटाने की चेष्टा की गई है—

मानव का अति क्षुद्र घरौंदा जग का प्राङ्गण बन जाए !
यों सीमा में निः-सीमा का विस्तृत चँदुआ तन जाए !!

कोऽहम् कस्त्वम् में उलझा हुआ प्राणी कैसे सोचता है यह भी देखिये—

तव प्राङ्गण यह क्या अनन्त है ?
या कि कहीं यह अन्त वन्त है ?
कब तक, कहो, सुलझ पायेंगे चिर रहस्य ये सारे ?
अस्थिर बने रहो तुम तारे।

इस प्रकार के चिंतना को उकसाने वाले अनेक स्थल उनमें बहुत मिलेंगे। उनमें एक-आध ब्रज के भी गीत हैं जिनमें कोमलता बहुत है यद्यपि भाषा की दृष्टि से नितांत अदोष नहीं रह पाये।

एक स्थान पर मैंने संकेत किया है कि अभिव्यंजन का संक्षिप्त-प्रयास गीत नहीं है। अंग्रेजी, हिंदी और संस्कृत-नाना भाषाओं में संक्षिप्त अभिव्यंजन व्यवस्था एक प्रथक महत्व रखती है। छोटी-छोटी सूत्रात्मक सूक्तियाँ बहुधा अपने में पूर्ण होती हैं और उक्ति वैचित्र्य अथवा ज्वलंत विचार खण्ड, अथवा प्रमुख तथ्य रूप, अथवा वास्तविक निष्कर्ष का प्रमुख भाग सामने रखने के कारण पाठकों और श्रोताओं के कण्ठ में अपना स्थान कर लेती हैं। आंशिक सत्य के दर्शन होने के कारण इनका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है। अंग्रेजी में इन्हें (Epigrams) कहते हैं। संस्कृत और हिंदी में तो इन सूत्रात्मक सूक्तियों के लिये विशेष छंदों का प्रयोग होता है। दोहा, सोरठा, बरवा, आर्या, अनुष्टुप इत्यादि छंदों में बहुधा सूक्तियों की रचना की जाती है। इन छंदों को कवि सूक्तियों के अतिरिक्त मुक्तक भाव-विचार और रूप को प्रकट करने के लिये भी प्रयोग करते हैं। कवि की सबसे बड़ी कला यह है कि एक या अनेक चित्र अथवा व्यापार, दो पंक्तियां

में इस प्रकार भर दें कि संमिश्रित बिम्बों की स्पष्टता भी नष्ट न हो और अकेला भाव, विचार और चित्र अलग चमकता रहे।

बिहारी का एक दोहा, रूप व्यापारों के मिश्रण का सौंदर्य प्रदर्शित करने के लिये, नीचे दिया जाता है —

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय,
सौंह करै, भौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाय।

आगे देखिये। विरोध अलंकार पर आश्रित कई छोटे-छोटे विचार किस प्रकार उलझे होने पर भी अलग-अलग चमक रहे हैं—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति,
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति।

इस प्रकार के अटपटे और कला पूर्ण दोहे और सोरठे हिंदी में भरे पड़े हैं। बरवों में भी मिठास भर दी गई है। वृंद, बिहारी, कबीर, रहीम, तुलसी, वियोगी हरि, दुलारेलाल और बालकृष्ण सभी के दोहों के अंकों में सूक्तियाँ पलती हैं। उन्हें यहाँ देकर इस लेख का कलेवर नहीं बढ़ाना है।

गीत एक स्वतंत्र साहित्यिक प्रयास है। वह संगीत और कविता के सोहाग की देन है। उसके किसी पंक्ति में तथ्य का सत्य अथवा परिस्थिति का सत्य भी सूक्ति के रूप में मिल सकता है। उक्ति वैचित्र्य का रूप भी उसमें कलाकार भर सकता है। प्रकृति का बिम्ब-प्रतिबिम्ब ग्रहण भी दिखाई पड़ता है। मन की नाना मनोरम वृत्तियों का विस्फोट भी मिल सकता है और उनका सधा हुआ निखरा रूप भी। कोई भी वस्तु, भाव, विचार, प्रवृत्ति और गति गीत का विषय बन सकता है। अभिव्यंजन में संगीत का मार्दव और नाद सौष्टव की योजना अनिवार्य है।

रीतिकाल की प्रतिक्रिया के रूप में हिंदी खड़ी बोली में छायावाद की जो अवतारणा हुई उसका परिणाम सर्वत्र अच्छा ही नहीं हुआ। रहस्यवाद तो वस्तु के रूप में थोड़े काल तक ही चला। जहाँ अलंकार वाद के स्थूल वाद का नख शिख वर्णन, नायिका भेद, षटऋतु वर्णन, बारहमासा वर्णन की बँधी परिपाटी की लीक समाप्त हुई और लोगों का मन कवींद्र रवींद्र के अध्यात्म से विरत हुआ तो फिर रहस्यवाद वस्तु से हट गया। छायावाद ने उसका स्थान लिया। परंतु आगे बढ़

कर वह भी केवल अभिव्यंजन प्रणाली के रूप में ही रह गया। अतएव अभिव्यंज्य से अभिव्यंजन को अधिक महत्व मिला और काव्य में नई-नई शैलियों का विकास हुआ। पुरानी वक्रोक्ति, समासोक्ति और अन्योक्ति शैलियों को और सूक्ष्म रूप दिया गया और संकेतों को अनेकार्थी ध्वनियों के महीन से महीन रूप में व्यवहृत किया गया। छायावाद के इस छल ने बहुत स्थलों में वस्तु को ही घपले में डाल दिया और केवल उक्ति के चमत्कार को ही लोग वाह-वाह कह कर अनुमोदन करने लगे। बड़े-बड़े कवियों में अनावश्यक दुरूहता पैठ गई—

प्रसाद जी के एक गीत की एक पंक्ति देखिये—

'उखड़ी साँसें उलझ रही हों, धड़कन से कुछ परिमित हो।'

यहाँ 'उखड़ी साँसों' से वियोग का संकेत है और 'धड़कन' से संयोग की ओर ध्यान दिलाया गया है। अर्थात् वियोग को संयोग सीमित करे और संयोग को वियोग सीमित करे यही प्रेम का सौंदर्य है। और देखिये—

"मादकता सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी,
मेरे निश्वासों से उठ कर अधर चूमने को ठहरी।"

मुख को हँसी का प्याला कह कर उठती हुई मुस्कराहट को प्याले में उठने वाली तरलाई बतलाना और फिर यह कहना कि हवा के एक ओर के झोंके से जैसे लहर दूसरी ओर सीमा को छूती है वैसे ही इनकी आहों के झोंकों में उनकी हँसी उनके अधरों को स्पर्श करने लगती है जब कि कहना केवल यह है कि इधर की आहों की अधीरता से उधर मुस्कराहट आ जाती है। यह अर्थ साधना अकष्ट साध्य नहीं कही जा सकती है।

छुटपुटिये कविन्दों में तो छायावाद अधिकतर पहेली बुझाने वाली उक्ति बन कर रह गई है। उनके तो भावों में भी कलाबाजी देखने में आती है—

"वेदना होती है मनमें तड़क सा उठता है ब्रह्माण्ड।"

ब्रह्माण्ड का यों ही तड़का देना महान कलाकार का ही काम है। भाव को सीधे सीधे परिस्थितियों के सोपान से चढ़ा कर उत्कर्ष देना तो सभी लोग जानते हैं।

संकेत का बोझ उक्तियों में लादना पुराने कवियों का भी चमत्कार है। कबीर इसमें बड़े विज्ञ हैं। जायसी भी बड़े चतुर हैं। परंतु वे प्रसिद्ध उपमानों के सहारे

ही यह चमत्कार दिखाते थे और समस्त उक्ति का क्रम और तारतम्य को लुप्त करना वे ठीक नहीं समझते थे। कबीर कहते हैं—

'काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी।
तोरे हि नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में वास,
जल में नलिनी तोरु निवास।
ना तल तपत न ऊपर आग,
तोर हेत कहु का सन लाग।
कहैं कबीर जे उदिक समान,
ते नहिं मुए हमारे हि जान।

कबीर पढ़ने वाले यह भली प्रकार जानते हैं कि वे 'उदिक' अर्थात् जल को परब्रह्म के अर्थ में सर्वत्र प्रयोग करते हैं।

'जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी'

यहाँ भी 'पानी' परब्रह्म के ही अर्थ में प्रयुक्त है। 'नलिनी' आत्मा के अर्थ में है। द्वैत का प्रसार माया का प्रसार है इसी भ्रम में पड़ कर आत्मा कष्ट उठाती है। वह अपने से अलग किसी शक्ति का भ्रम करती है फिर दुख का अनुभव करती है। यदि वह अपने को 'उदिक' मय अथवा ब्रह्ममय समझने लगे तो इस अद्वैत स्थापना से न वह दुख अनुभव करेगी और न कबीर की भाँति मृत्यु अनुभव करेगी।

इस उक्ति का चमत्कार अन्योक्ति साधना से बन पड़ा है।

जायसी का संकेत देखिये—

'भँवर छपान, हंस परगटा'

अर्थात् काले केश समाप्त हो गये और धवल केश दिखाई देने लगे। काले केशों का संकेत भँवर से और धवल केशों का हंस से किया गया है। भँवर की परिभ्रमण वृत्ति, नये-नये स्नेह जोड़ने की वृत्ति, उसकी चंचलता सभी में तरुणाई

का आरोप रहता है। इसी प्रकार नीर-क्षीर विवेकी धीरे-धीरे से पग धरने वाला हंस परिपक्व बुद्धि बुढ़ापे का अच्छा उपमान है। इन संकेतों में उपमानों के अर्थ बोध में इतना सामर्थ्य है कि संकेत दुरूह न हो। बस इसी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। अर्थ और भाव चाहे जितनी कोठरियों में बंद क्यों न हो उसका सूत्र द्वार पर ही मिलना चाहिए जिसके सहारे अथवा झटके से सारी ध्वनि समझ में आ जाय। यह बड़ी सराहना की बात है कि बालकृष्ण के गीत दुरूह और अस्पष्ट नहीं हैं। उनमें दो-चार तत्सम संस्कृत शब्दों का काठिन्य मिल सकता है परंतु अभिव्यंजन दुरूह नहीं है।

एक और दोष जो साधारण प्रकार से आजकल के गीतों में देखा जाता है वह पूर्णता का अभाव है। गायक आठ-दस पंक्तियों में किसी विचार अथवा भाव अथवा धुँधले चित्र को उठाता है और उसको पूर्णता प्रदान किये बिना छोड़ देता है और समझता है कि उसने एक उत्तम गीत रच दिया। यह भ्रम है। दो-चार जाज्वल्यमान उक्तियाँ, दो-एक उक्ति वैचित्र्य के चमकीले टुकड़े, दो-तीन अलग-अलग उखड़े विचार, एक दो भाव वृत्ति के झकझोर—इन सबके समवेत रूप में आ जाने से कोई उक्ति गीत नहीं हो जाती। गीत के लिये आरंभ की पंक्ति ही से परिस्थिति को संगीत के सहारे क्रम-क्रम से ऊपर चढ़ने के लिये एक भाव-सोपान मिलना चाहिए जिसमें लचक का सौंदर्य और झूला चाहे हो परंतु उखड़ी सीढ़ियां पर कूदने की आवश्यकता न पड़े। अन्यथा चेतनता सावधान होकर मस्ती खो देगी। और फिर परिस्थिति को पूरा विस्तार दिये बिना गीत में एक निष्ठा, एक प्रेरणा, एक निवेदन की योजना कहाँ हो सकेगी। पूर्णता के अभाव में सामुहिक आघात का प्रभाव भी कुण्ठित ही रहेगा। इस संबंध में भी यही निवेदन है कि बालकृष्ण के गीतों में यह दोष नहीं सा है।

बालकृष्ण के गीतों में मांसल भावुकता है। अभिव्यंजन की तिलमिलाहट है। प्रिय का रूप चिरंतन आलम्बन है। अतीत के संपर्क स्मृति संचारी का काम देते हैं। रस राज श्रृंगार उनके गीतों का मर्म है। संयोग और वियोग दोनों पक्षों के दर्शन होते हैं। संयोग बहुत कम और अधिकतर मानसिक और कहीं-कहीं कुछ अनुकूल अतीत अवसरों के रतिपूर्ण क्षणों की याद जिसमें वियोग भी मिला है जैसे—

"प्राण तुम्हारी हँसी लजीली।"

"ग्रीव में वह तव मृदु भुज-माल, स्मरण-कंटक बन आई, बाल;"

अथवा—

"तुमने आकर, विहँस, प्रियतमे, नयनों में भर प्यार,
निज भुज-माला इस ग्रीवा में डाली थी उस काल,
स्मरण-शर वह बन आई, बाल।
इस वक्षस्थल पर शिर रख, तुम मौन, शांत, गम्भीर,—
देख रहीं थी हमें दृगों से प्राणार्पण-रस ढाल,
स्मरण वे शूल बने हैं, बाल।"

और देखिये—

"जब कि कनखियों से मुझको तुम निरख रहे थे आते-जाते;
दृग से दृग जब मिल जाते थे तब तुम थे कुछ-कुछ मुसकाते,"

इसी प्रकार—

"कभी सँवारे थे हमने भी उनके कुन्तल-पुञ्ज,
वे संस्मरण आज आये हैं बन कर काले नाग,"

विप्रलम्भ ही वास्तव में उनका प्रधान भाव है। विप्रलम्भ की एक विशेष भारतीय परिपाटी है। यहाँ का प्रिय प्रेमी भी होता है। परिस्थिति जन्य अवरोधों से केवल वह अपने प्रिय से मिल नहीं पाता। प्रेमी को पग-पग पर प्रिय के अनुकूल व्यवहार का भूतकाल अधिक कष्ट दिया करता है। उर्दू का माशूक बेवफा और धोखेबाज अधिकतर अंकित किया जाता है। इकतर्फा इश्क का चित्रण अंग्रेजी में भी कहीं कहीं मिलता है। भारतीय संस्कृति के प्रभाव के कारण यहाँ इस प्रकार के चित्रण कम मिलते हैं। बालकृष्ण के प्रेम में भी भारतीयता के लक्षण मिलेंगे। हाँ, प्रिय का रूप उभय लिंगों में देखना यहाँ की परिपाटी नहीं है। यह कदाचित् उर्दू का उत्तराधिकार हो। भक्त कवि भगवान की अवतारणा स्त्रीलिंग में कर ही कैसे सकते थे अतएव बालकृष्ण ने कदाचित् अपने 'सरकार' को उन्हीं के संबोधन के

अनुसार सँवारा है। वास्तव में स्त्री रूप में बार-बार का संबोधन कुछ शील सम्पन्न भी नहीं मालूम होता है और सारी उक्ति का वाच्यार्थ ही अधिक सामने आता है; लक्ष्यार्थ तक मन को पहुँचाने में भावना आनाकानी करती है।

बालकृष्ण के वियोग चित्रों में अतीत के रमण स्वरूपों का बल भी रहता है और भविष्य की रमण भूमि की अनेकार्थी कामना भी काम करती है। एक उदाहरण देखिये—

(१)

"आओ, बलिहारी जाऊँ, तुम झूलो आज हिंडोले;
मैं झोटे दूँ, तुम चढ़ जाओ झूले पे अनबोले।
मेरी अमराई में झूला पड़ा रसीला, बाले,
चँवर डुलाते हैं रसाल के रसिक पर्ण हरियाले;
रस-लोभी अलिगण मँडराते हैं काले भौंराले,
सूना झूला देख उभर आते हैं हिय में छाले;
आओ, पैंग बढ़ाओ झूले की तुम हौले-हौले,
सजनि, निछावर हो जाऊँ, तुम झूलो आज हिंडोले!

(२)

भोली सहज लाज-मोहकता निज नयनों में घोले,—
आकर सुहरा दो मेरे हिय के सुकुमार फफोले,—
आन कँपा दो इस झूले की रसिक रज्जु की फाँसी;
मेरी उत्कंठा को, सुन्दरि, डालो गलबहियाँ-सी;
क्वासि? क्वासि? प्यासी आखों से बरस रहीं फुहियाँ-सी
आ जाओ मेरे उपवन में सजनि, धूप छहियाँ-सी
झुक-झुक, झूम-झूम, खिल जाओ हृदय ग्रन्थियाँ खोले,
आओ बलिहारी जाऊँ, तुम झूलो आज हिंडोले।"

आगे देखिये—

(१)

"युगल लोचन में मदिर रंग छलक उठता देख,
निठुर, तुमने फेरली क्यों आँख एकाएक ?
सिहर देखो कनखियों से अरुण मेरे नैन;
सकुच शरमा कर कहो, कुछ 'हाँ-नहीं' के बैन;
भर रहा है, सजनि, फिर से यहाँ शुष्क तड़ाग,
जग उठा, हाँ, जग उठा है सुप्त अश्रुत राग !

(२)

मृदुल कोमल बाहु बल्लरियाँ डुलाकर, बाल,—
कठिन संकेताक्षरों को आज करो निहाल;
आज लिखवाकर तुम्हारे पूजकों के नाम,—
हृदय की तड़पन हुई है; सजनि, पूरन काम,
राग के, अनुराग के, अब खुल गये हैं भाग, ?
जग गया, हाँ, जग गया है सुप्त, अश्रुत, राग ।।

"मैं तुमको निज गीत सुनाऊँ" शीर्षक कविता मे बालकृष्ण कहते हैं—

"तुम बैठो मम सम्मुख अपना चीनांशुक पीताम्बर पहने,
और बनें अंगुलियाँ मेरी तव मंजुल चरणों के गहने;
तुम आकर्ण सजाए वेणी, विहँस–विहँस दो मुझे उलहने;
यही साध है, मेरे प्रियतम, तुम रूठो, मैं तुम्हें मनाऊँ;
और साध क्या है ? बस इतनी कि मैं तुम्हें निज गीत सुनाऊँ !
सुनकर मेरे गीत, कभी तो तव लोचन डब-डब भर आएँ;
और कभी मेरे नयनों से कुछ संचित बूँदें झर जाएँ;

यों मेरे संगीत रसीले तव मृदु चरणों में ढर जाएँ;
यही मनाता हूँ कि कभी मैं गायन-स्वन-लहरी बन छाऊँ;
यही साध है, प्रियतम मेरे, कि मैं तुम्हें निज गीत सुनाऊँ।
करूँ तुम्हारे श्री चरणों में, गीत सुनाकर, जब मैं वन्दन,—
तब तुम सहला देना मेरे धवल केस, हे जीवन-नन्दन!
मैं प्राचीन, 'नवीन' बनूँगा, होंगे विगलित मेरे बन्धन;
यह वर देना कि मैं सदा नव-नव गीतों से तुम्हें रिझाऊँ;
यही साध है, प्रियतम मेरे, कि मैं तुम्हें कुछ गीत सुनाऊँ।"

इसी प्रकार आसन्न प्रिय के प्रति प्रणय निवेदन की झाँकी देखिये—

"मृदु गल बहियाँ डाल विहँसती
बन जाओ गल-हार,
अब कैसी यह झिझक सलौनी?
अब कैसा अविचार?
आज सखि नवल वसन्त-बहार,
कर रही मदिर भाव-सञ्चार;
आज सखि नवल वसन्त बहार।"

(7) बालकृष्ण प्रकृति का सुंदर चित्रण समक्ष रखने में बड़े निपुण हैं। उनका रूप प्रदर्शन संकुल और बिम्ब-प्रतिबिम्ब होता है। प्रकृति को निज के राग-द्वेश से स्वतंत्र भी देखने और दिखाने की क्षमता उनमें है। ऊषा के चित्रण में भी आप देखेंगे कि प्रातःकाल के पाटव में समस्तता तो है ही संगीत की पूर्ण योजना है जिससे गीत पूरा सार्थक हो गया है।—

"रुन-झुन, गुन-गुन, रुन-झुन, गुन-गुन, भ्रमरी-पाँजनियाँ गुञ्जारीं;
तन-मन-प्राण-श्रवण ध्वनि-नन्दित, आई यह अरुणा सुकुमारी।

(१)

वन-वन में कम्पन-निष्पन्दन भर-भर, विचरा सनन समीरण;
वंश अवलियों के अन्तर से गूँजे नव-नव स्वागत के स्वन;
सिहर उठे जग के रज कण-कण;
पुलकित प्राण, खिल उठा चेतन;
जलज खिले; मानों अरुणा ने अपनी अखियाँ सजल उघारीं।
बजीं भृंग-पाँजनियाँ, आई ठुमुक-ठुमुक अरुणा सुकुमारी ॥

(२)

किरण-मार्जनी से मृदुला ने दूर किया वह दुर्दम तम घन;
अरुण-अरुण निज कोमल कर से चमकाया अम्बर का आँगन;
लुप्त हो चले ग्रह, तारक-गण;
विहँसीं सकल दिशायें मुद मन;
अम्बर से अवनी तक लहरी अरुणा की सतरंगी सारी;
गगन-अटा से हँस-मुसकाती उतरी नव बाला सुकुमारी।

(३)

हँसी मेदिनी, हँसे शैल गण, तरु लतिकायें हँसी अकारण;
कलियाँ हँसी, पर्ण तृण हुलसे, गान कर उठे सब द्विज-चारण,
गूँजा मन्त्र - छन्द - उच्चारण;
पूर्ण हुआ तम - मौन - निवारण;
अनहद नाद मगन नभ-मंडल, नाद मगन सब गगन-बिहारी;
तन, मन, श्रवण निनादित करती आई यह अरुणा सुकुमारी।"

इसी प्रकार इनकी कविता "काल्पनिक अवसर" है। वे भाव चित्र हैं। इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता उनका संगीत मार्दव है। पंक्तियों का उद्देश्य मूर्ति-

मान चित्रों द्वारा दृष्टि अनुरंजन उतना नहीं है जितना कि वातावरण के संकुल स्वरूप में परिस्थितियों के रूप व्यापारों को श्रवण चित्रों में उपस्थित करना है। नादों को शब्दों की व्यवस्था देना, ध्वनियों के धागों का ऐसा सुलझा रूप कानों तक पहुँचा देना कि श्रवण-भाव दृष्टि-भाव से अधिक चिरंतन बना रहे, बड़े कुशल कलाकार का काम है।

साधारणतया प्रकृतिरूप भावाधीन हैं। उससे उद्दीपन का ही काम लिया गया है। 'वर्षा लोके' शीर्षक कविता का कुछ अंश देखिये —

(१)

''जब कि नील अम्बर में श्यामल घन का चँदुआ तन जाता है,
उपवन जब कि सिहर उठता है, वन कम्पन-मय बन जाता है,
उन घड़ियों में, तुम जानो हो, क्या-क्या मेरे मन भाता है,
खूब जानते हो, उस क्षण, मैं क्यों लगता हूँ कुछ-कुछ रोने;
कौन बात ऐसी है मेरी, जो तुमसे हो छिपी सलोने?

(२)

ये घन-गन जो इधर पधारे, आज उधर भी आए होंगे;
जो मेरे कारागृह छाए, वे वाँ भी तो छाये होंगे;
जो लाए रोमांच इधर, वे, पुलक उधर भी लाये होंगे;
तुम भी भींजोगे इनसे जो आए हैं यों मुझे भिगोने;
मूरख मेघ, तुम्हारे बिन ही, आए यों मेदिनी सँजोने।

(३)

तुम्हें याद है: घन-गर्जन-क्षण नित नूतन परिरम्भण मय हैं;
ये अटपटे हवा के झोंके बने स्मरण-अवलम्बन मय हैं।
पर ये मेरे लिये यहाँ तो आज बन गये क्रन्दन मय हैं;

ये सब, सजधज कर आये हैं अपने ही में मुझे डुबोने,
और काटने दौड़ रहे हैं ये कारा के कोने-कोने ।

× × × ×

इक बन्दी के लिये कहो तो, क्या बरसात गई, या आई ?
मेरी क्या आर्द्रा चित्रा यह ? प्रिय, मेरी क्या शरद जुन्हाई ?
क्या हेमन्त, शिशिर ऋतु मेरी ? मेरी कौन वसन्त-निकाई ?
खोकर सब ऋतु-ज्ञान, चला हूँ मैं तो आज स्वयं को खोने !
हैं खाली-खाली रस-भीने मेरे हिय के कोने-कोने ।''
'प्रिया हीन डरपत मन मोरा' याद आता है ।

जहाँ एक ओर 'तुम जानो हो' लिखने में भाषा का स्थानिक प्रयोग कुछ खटकने सा लगता है वहाँ अंतिम दो पंक्तियों में सारी पार्थिवता को केवल सोपान की भाँति प्रयोग करके अपार्थिवता की बलवती आकांक्षा को ऊपर चढ़ा दिया गया है। उनकी 'नयन स्मरण अंबर में' साहित्यिकता, कलापूर्णता, संगीत का वायु और भावना का झकझोर सभी एक साथ पनप रहे हैं। 'जागो, मेरे प्राण-पिरीते' कविता में प्रात:काल का कलात्मक वर्णन है। इसी प्रकार 'ठिठुरे हैं विकल प्राण' की अंतिम की चार पंक्तियों में बिंब ग्रहण कराया गया है। पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

''धन-गत यह पौष-तरणि क्षीण तेज, मानों मृत;
निष्प्रभ सा काँप रहा मन्द-मन्द, धूमावृत;
ऋतु-ऋतुकर सुकृत किरण आज हुई विकृत, अनृत;
ऐसे क्षण विहँस रखो दिनकर का गलित मान;
ठिठुरे हैं विकल प्राण ।''

उनकी प्रणय की अनेक परिस्थितियाँ, अतीत के सान्निध्य की अनेक मनुहारें और रति व्यापार की याद और वेदना इन सबकी इतनी आवृत्ति है कि यदि उनमें स्वतंत्र रूप से अभिव्यंजन की मौलिकता, संगीत का नया-नया आवरण

तथा वस्तु की प्रत्येक पकड़ में एक नयी निबंधन-विधि न हो तो एक प्रकार का रूखापन आ जाता। परंतु महाकवि सूर की भाँति बालकृष्ण की भी यही जीत है।

(10) बालकृष्ण चिरंतन तरुण कवि हैं। उनकी तरुणाई की तरलाई के कण-कण में द्वैत का परिरम्भ मुस्कराता है। उनका चिरंतन भाव 'रति' है परंतु युवावस्था की अँगड़ाइयों में प्रणय की थकावट का विज्रम्भण नहीं है वरन् अपूर्ण जीवन के अवसाद के निश्वास हैं। जवानी का रस सब कहीं है। प्रिय की स्मृति की मादकता प्रकृति के सुहावने नशे से मिलकर मन को नचा देती है और क्षुब्ध कर देती है। सूरदास की भाँति बालकृष्ण—'अब मैं नाचो बहुत गुपाल' कह कर उसकी शिकायत नहीं करते। उनके दर्शन में यह पार्थिव आकांक्षा अपवित्रता नहीं है वरन् परमत्व प्राप्ति के लिये आवश्यक सहारा है। यह वर्तमान की बलवती विचार धारा है।

यह देखिये—'हिय में सदा चाँदनी छाई' शीर्षक कविता में बालकृष्ण ने व्यक्त और अव्यक्त की कैसी निबंधना की है। ऊपर और नीचे की कैसी रागपूर्ण योजना है।

"कुछ धूमिल-सी, कुछ उज्ज्वल—सी झिल-मिल शिशिर चाँदनी छाई,
मेरे कारा के आँगन में, उमड़ पड़ी यह अमित जुन्हाई!
यह आँगन है उस भिक्षुक-सा, जो पा जाये अति अमाप धन!
उस याचक-सा जो धन पाकर, हो जाए उद्भ्रान्त, शून्य मन!!
उसी तरह सकुचा-सकुचा-सा आज हो रहा है यह आँगन,
कहाँ धरे यह विपुल संपदा, फैली जिसकी अमित निकाई?
उमड़ पड़ी यह शिशिर-जुन्हाई!

मैं निज काल कोठरी में हूँ, औ' चाँदनी खिली है बाहर;
इधर अँधेरा फैल रहा है, फैला उधर प्रकाश अमाहर;
क्यों मानूँ कि ध्वान्त अविजित है, जब हैं विस्तृत गगन उजागर
लो! मेरे खपरैलों से भी एक किरण हँसती छन आई!!
उमड़ पड़ी यह शिशिर—जुन्हाई!"

जवानी का केवल तूफान कविता नहीं है और न केवल बुढ़ापे की थकावट ही कविता है। अमरत्व पर चलने वाली समूचे जीवन की वृत्तियों का सामंजस्य पूर्ण व्यक्तीकरण कविता है। इसीलिये ऊँचे कलाकार सर्व युगीय और सर्व देशीय भावों को पकड़ते हैं और चिरंतन धड़कन को सुनते सुनाते हैं। परंतु भावों की कसमसाहट का भी अपना मूल्य है। अनियंत्रित विस्फोट की भी एक भभक होती है। गहरी से गहरी भावुकता में ईमानदारी हो सकती है। वाह्यार्थों और मात्रा स्पर्शों में तपन शीतलता हो सकती है। लोक साधना विहीन, समाज के बुरे बेलीक चलने वाले फक़ीर में भी सौंदर्य होता है।

"हम अनिकेतन, हम अनिकेतन,
हम तो रमते राम, हमारा क्या घर? क्या दर? कैसा वेतन?
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

(१)

अब तक इतनी यों ही काटी,
अब क्या सीखें नव परिपाटी?
कौन बनाए आज घरौंदा
हाथों चुन-चुन कंकड़ माटी
ठाट फ़क़ीराना है अपना, वाघम्बर सोहे अपने तन,
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

(२)

देखे महल, झोपड़े देखे,
देखे हास-विलास मज़े के,
संग्रह के विग्रह सब देखे,
जँचे नहीं कुछ अपने लेखे;
लालच लगा कभी, पर, हिय में मच न सका शोणित-उद्वेलन,
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

(३)

हम जो भटके अब तक दर-दर,
अब क्या ख़ाक़ बनायेंगे घर ?
हमने देखा : सदन बने हैं,—
लोगों का अपना-पन लेकर;
हम क्यों सनें ईंट-गारे में ? हम क्यों बने व्यर्थ में बेमन ?
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन ।

(४)

ठहरे अगर किसी के दर पर
कुछ शरमा कर, कुछ सकुचाकर
तो दरबान, कह उठा—बाबा
आगे जा देखो कोई घर !
हम दाता बनकर विचरे; पर हमें भिक्षु समझे ज़ग के जन,
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन ।

ऐहिक क्रोड़ की घोर वास्तविकता में भी विश्वास रमण कर सकता है । यथार्थ के मैल के भीतर से भी सत्य चमक सकता है । पाप और पुण्य दोनों सत्य हैं यह समझा और समझाया जा सकता है । बात केवल अभिव्यंजन की निश्छलता की है और गायक की निष्ठा की है । यहाँ यह निर्भ्रांत रूप से कहा जा सकता है कि बालकृष्ण के सभी गीतों में निष्ठा है और निश्छलता है । अतएव मेरे समक्ष यह प्रश्न उतना महत्व नहीं रखता कि उनके गीतों में व्यक्त से अव्यक्त की ओर संकेत हैं अथवा नहीं अथवा उनके मंतव्य पार्थिव न होकर आध्यात्मिक हैं। बहुत स्थलों पर उनमें धीमें और कहां गहरे आध्यात्मिक संकेत मिलते अवश्य हैं—

"खोकर सब ऋतु-ज्ञान, चला हूँ मैं तो आज स्वयं को खोने !
हैं खाली-खाली रस-भीने मेरे हिय के कोने-कोने ।"

× × × ×

"हम तुम मिल क्यों न करें आज नवल नीति–सृजन ?
जिस पर चल कर पायें निज को ये सब जग–जन; "

× × × ×

"मास, वर्ष की गिनती क्यों हो वहाँ, जहाँ मन्वन्तर जूझें ?
युग--परिवर्तन करने वाले जीवन—वर्षों को क्यों बूझें ?
हम विद्रोही !! कहो, हमें क्यों अपने मग के कंटक सूझें ?
हमको चलना है !!! हमको क्या ? हो अँधियारी या कि जुन्हाई !
हिय में सदा चाँदनी छाई ।"

ऐसे और भी उदाहरण मिलेंगे। परंतु उन पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता है। ससीम से निस्सीम की ओर उतने संकेत न मिलेंगे जितना ससीम का विस्तार करके निस्सीम के बराबर पहुँचाया गया है। 'प्राण, तुम्हारी हँसी लजीली' कविता इसका उदाहरण है।

जिन पार्थिव रूप व्यापारों को कवि सामने रखता है, जिन प्रतीकों का आधार लेकर वह कुछ कहना चाहता है यदि उनका वर्णन, चित्रण, गायन अथवा भावना-करण, इतना विशद और संकुल हो जाता है कि श्रोता की रमण वृत्ति उन्हीं में हिलग कर रह जाती है, और उनमें पार्थिव उन्मेष और ऐंद्रिक सिहरन उत्पन्न होने लगती है तो केवल किसी पंक्ति में कोई द्विअर्थक बात कहने में किसी आध्यात्मिक संकेत का कोई मूल्य नहीं रहता। पाठक का मन तो पार्थिव परिस्थितियों को ही दुहराता रहेगा। बालकृष्ण के 'स्मरण कण्टक' की ये पंक्तियाँ—

'हम समझे थे कि हैं सदा के हम कंटकित बबूल।
पर तुमने हँस कहा: सजन, तुम ? तुमहो हरित रसाल;'

से यह ध्वनि निकालना कि आत्मा हमेशा अपने को परम से पृथक पाप रूपी काँटों से पूर्ण समझती थी परंतु परमात्मा की एक मुस्कराहट ने उसके असली रूप को स्पष्ट कर दिया उतना प्रसंगानुकूल और समस्त कविता के संबन्ध में उचित नहीं प्रतीत होता जितना सीधा सादा वाच्यार्थ जँचता है जिसके अनुसार कवि यह

कहता प्रतीत होता है कि प्रिय के साक्षात्कार ने उसके शुष्क बबूल जीवन को भी 'रसालवत्' मीठा बना दिया।

किसी आध्यात्मिक प्रयोजन के लिये कवि को आध्यात्म की एक पृष्ट भूमि बनानी पड़ती है। पृष्ट भूमि कभी भी नेत्रों से ओझल नहीं होती। जगत के रूप व्यापार उसी में सजते हैं और उसी के आलोक में चमकते हैं। उसकी ही सजावट में वे सहायता देते हैं। यदि वे पार्थिव वातावरण में सजाये जाते हैं तो किसी एक झटके में वे अपार्थिव नहीं बन सकते। जमुना के किनारे चाँदनी रात में रासलीला में रत गोपिकाओं के वस्त्रापहरण करते हुए श्री कृष्ण के मुख से केवल यह कहला देने से कि—

"परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।"

वे भगवान न बन सकेंगे। काव्य पादप को पृथ्वी से चाहे जितनी खाद्य खींचना पड़े परंतु उसे अपनी छिपी हुई गड़ी शिराओं से खींचेगा। ऊपर तो लहलहाती पत्तियाँ और फूल आकाश की ही ओर जायगे।

यह कदाचित अधिक सत्य न होगा कि बालकृष्ण के सारे पार्थिव उन्मेष आध्यात्मिक उड़ान हैं जिस प्रकार भौतिक दार्शनिकों की यह बात अधिकतर सत्य नहीं है कि विश्व के सारे आध्यात्मिक उड़ान उसकी पार्थिवता की प्रतिक्रिया है उसके विफल प्रेम की गाथा है। हमें तो बालकृष्ण का मूल्य उनकी अभिव्यंजना की सत्यता से आँकना है। अपार्थिव जामा पहनाने से कलाकार के व्यक्तित्व का मूल्य आज भारतवर्ष ऊंचा आँकने लगे परंतु कला के मूल्यांकन में इससे कोई अंतर नहीं आता। विश्व के सभी साहित्यों में और विशेष कर संस्कृत और हिंदी में ऐसी परिपाटी कभी नहीं रही है कि आध्यात्मिक प्रेरणा के अभाव में काव्य को ऊँची कला न समझा जाय। अन्यथा कालिदास प्रभृति संस्कृत के कलाकार और बिहारी प्रभृति हिंदी के कलाकारों का कोई स्थान ही न रहेगा।

बूढ़ों और बुढ़ियों का परितोष होने पर भी युवक और युवती में विरोधी सामाजिक बंधनों को छिन्न-भिन्न करने की तत्परता उनका शृंगार है। इसी रूप में काव्य इन्हें अंकित करता आया है।

"साक़ी ! मन-घन-गन घिर आये, उमड़ी श्याम मेघ-माला,
अब कैसा विलम्ब ? तू भी भर भर ला गहरी गुल्लाला;

(१)

तन के रोम-रोम पुलकित हों,
लोचन दोनों अरुण चकित हों;
नस-नस नव झंकार कर उठे;
हृदय विकम्पित हो, हुलसित हो;
कब से तड़प रहे हैं—खाली पड़ा हमारा यह प्याला ?
अब कैसा विलम्ब ? साक़ी भर भर ला तू अपनी हाला ।

(२)

और ? और ? मत पूँछ; दिये जा,—
मुँह माँगे वरदान लिये जा;
तू बस इतना ही कह, साक़ी,—
'और पिये जा ! और पिये जा !!'
हम अलमस्त देखने आये हैं तेरी यह मधुशाला,
अब कैसा विलम्ब ? साक़ी, भर-भर ला तन्मयता हाला ।

(३)

बड़े विकट हम पीने वाले,—
तेरे गृह आए मतवाले;
इसमें क्या संकोच ? लाज क्या ?
भर-भर ला प्याले पर प्याले;
हम - से बेढब प्यासों से पड़ गया आज तेरा पाला,
अब कैसा विलम्ब ? साक़ी, भर-भर ला तू अपनी हाला ।

(४)

हो जाने दे ग़र्क़ नशे में,
मत आने दे फ़र्क़ नशे में;
ज्ञान - ध्यान - पूजा - पोथी के—
फट जाने दे वर्क़ नशे में !

ऐसी पिला कि विश्व हो उठे एक बार तो मतवाला।
साक़ी, अब कैसा विलम्ब ? भर-भर ला तन्मयता-हाला।

(५)

तू फैला दे मादक परिमल,
जग में उठे मदिर-रस छल-छल;
अतल-वितल-चल-अचल जगत में—
मदिरा झलक उठे झल-झल-झल;

कल-कल-छल-छल करती हिय-तल से उमड़े मदिरा बाला,
अब कैसा विलम्ब ? साक़ी, भर-भर ला तू अपनी हाला।

(६)

कूज़े-दो कूज़े में बुझने वाली मेरी प्यास नहीं,
बार-बार "ला ! ला !" कहने का समय नहीं अभ्यास नहीं ?

अरे बहा दे अविरल धारा;
बूंद बूंद का कौन सहारा ?
मन भर जाय; जिया उतरावे,
डूबे जग सारा का सारा;

ऐसी गहरी ऐसी लहराती ढलवा दे गुल्लाला।
साक़ी, अब कैसा विलम्ब ? ढरका दे तन्मयता-हाला॥"

उसी प्रकार देश को अन्यतंत्र से निजतंत्र में लाने की भावना ब्रिटिश सरकार की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने के रूप में राष्ट्रीय जागरण ने तरुणों और तरुणियों को सिखाया। भारतवर्ष में ये दोनों क्रांतियाँ साथ चलती रहीं। बालकृष्ण में ये दोनों अपने परम रूप में थीं।

"मास, वर्ष की गिनती क्यों हो वहाँ, जहाँ मन्वन्तर जूझें ?
युग-परिवर्तन करने वाले जीवन—वर्षों को क्यों बूझें ?
हम विद्रोही !! कहो, हमें क्यों अपने मग के कंटक सूझें ?
हमको चलना है !!! हमको क्या ? हो अँधियारी या कि जुन्हाई ?
हिय में सदा चाँदनी छाई।"

परंतु यह उनका गौरव है अथवा उनका बूढ़ों का सा स्वभाव है कि उन्होंने अपनी वाणी को सांस्कृतिक नियंत्रण में ही अधिकतर रक्खा। फिर भी हमें उनके काव्य का मूल्यांकन उनके व्यक्तित्व को प्रथक रख कर ही करना उचित है। शब्द चित्र से, भाषा कैतव से, भाव जटिलता से अथवा दार्शनिक संकेतात्मकता से कवि परिपाटियाँ व्यक्त से अव्यक्त की झाँकियाँ प्रस्तुत करती हैं। इस ओर बालकृष्ण का ध्यान न था परंतु डुबा देने वाले संगीत के प्रवाह से उन्होंने सर्वत्र ही अपनी काव्य की ऐहिकता धो डाली है। 'गीत' गीत ही रहे हैं। वास्तव में वही कृती धन्य है जिसकी कला संगोपन और निरावरण की सीमायें देखती रहती हैं।

सद्गुरुशरण अवस्थी

अनुक्रम

शीर्षक			पृष्ठ
२८	अस्थिर बने रहो तुम तारे	...	६१—६२
२६	हिंडोला	...	६३—६४
३०	कह लेने दो	...	६५—६६
३१	रुन - झुन - झुन	...	६७—६६
३२	वह सुप्त अश्रुत राग	...	७०—७२
३३	साक़ी !!!	...	७३—७५
३४	मैं तुमको निज गीत सुनाऊँ	...	७६—७७
३५	भीग रही है मेरी रात	...	७८—७६
३६	क्या है तव नयनों के पुट में ?	...	८०—८१
३७	मेरे प्रियतम, मेरे मंगल	...	८२—८३
३८	हमारी क्या होली ? क्या फाग ?	...	८४—८७
३६	आ जा, रानी विस्मृति, आ जा	...	८८—६०
४०	मत मुँह मोड़, अरे बेदरदी,	...	६१—६३
४१	तुम नहिं जानत हो	...	६४—६५
४२	तरुवर आज हुये अनुरागी	...	६६—६८
४३	धूमिल तव चित्र, प्राण,	...	६६—१०१
४४	तुम चिरकाल हँसो, फूलो	...	१०२—१०३
४५	तुम इसे पहचानते हो ?	...	१०४—१०५
४६	बिथा या हिय की बरनि न जात	...	१०६—१०८
४७	माघ – मेघ	...	१०६—११०
४८	क्यों उलझे मन ?	...	१११—११३
४६	मेरे परिपन्थी	...	११४—११७
५०	तव मृदु मुसकान, प्राण	...	११८—११६
५१	विहँस उठो, प्रियतम, तुम	...	१२०—१२२
५२	तू मत कूके कोयलिया, सखि,	...	१२३—१२४
५३	ठिठुरे हैं विकल प्राण	...	१२५—१२७
५४	हम अनिकेतन	...	१२८—१२६
५५	वसन्त-बहार	...	१३०—१३२
५६	मिल गये जीवन-डगर में	...	१३३—१३४
५७	सन्ध्या - वन्दन	...	१३५—१३७

आई यह अरुणा सुकुमारी

रुन-झुन, गुन-गुन, रुन-झुन, गुन-गुन, भ्रमरी-पाँजनियाँ गुन्जारीं ;
तन-मन-प्राण-श्रवण ध्वनि-नन्दित, आई यह अरुणा सुकुमारी ।

(१)

वन-वन में कम्पन-निष्पन्दन भर-भर, विचरा सनन समीरण ;
वंश-अवलियों के अन्तर से गूँजे नव-नव स्वागत के स्वन ;
सिहर उठे जग के रज कण-कण ;
पुलकित प्राण, खिल उठा चेतन ;
जलज खिले; मानों अरुणा ने अपनी अँखियाँ सलज उघारीं ।
बजीं भृंग—पाँजनियाँ, आई ठुमुक-ठुमुक अरुणा सुकुमारी ॥

(२)

किरण-मार्जनी से मृदुला ने दूर किया वह दुर्दम तम घन ;
अरुण-अरुण निज कोमल कर से चमकाया अम्बर का आँगन ;
लुप्त हो चले ग्रह, तारक-गण ;
विहँसीं सकल दिशायें मुद मन ;
अम्बर से अवनी तक लहरी अरुणा की सतरंगी सारी ;
गगन-अटा से हँस-मुसकाती उतरी नव वाला सुकुमारी।

(३)

हँसी मेदिनी, हँसे शैल गण, तरु लतिकायें हँसीं अकारण ;
कलियाँ हँसीं, पर्ण, तृण हुलसे, गान कर उठे सब द्विज-चारण ;
गूंजा मन्त्र - छन्द - उच्चारण ;
पूर्ण हुआ तम - मौन - निवारण ;
अनहद नाद मगन नभ-मंडल, नाद मगन सब गगन-विहारी ;
तन, मन, श्रवण निनादित करती आई यह अरुणा सुकुमारी।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क २० नवम्बर, १९४३

प्राण, तुम्हारी हँसी लजीली

प्राण, तुम्हारी हँसी लजीली,—
रजत जुन्हाई बन आई है, हुई यामिनी मुदित, रसीली;
प्राण, तुम्हारी हँसी लजीली;

(१)

यह तव ज्योत्स्ना-स्मिति-तरंगिणी, औ' गँभीर गंगा अम्बर की,—
हिलमिल कर बन गईं एक ही; मानों द्विधा मिटी अन्तर की;
मिली तुम्हारी हास-धुनी में यह नभ-शैवलिनी शंकर की;—
जिसकी विस्तृत तारा-धारा, अब न रही उतनी चमकीली;
प्राण, तुम्हारी हँसी लजीली।

(२)

नभ में लहरीं रौप्य - लहरियाँ; डूब - डूब उतराए तारे,
स्वयं गगन की अमल नीलिमा विलस उठी श्वेताम्बर धारे;
दुर्दम तम - संभ्रम सब हारे; तन, मन, प्राण हुए उजियारे;
तुम क्या हँसे कि नभ के हिय से निकली तम-भ्रम-अनी नुकीली;
प्राण, तुम्हारी हँसी लजीली।

(३)

दिङ्-मण्डल उल्लसित, प्रफुल्लित; विलसित गगन; मगन तारक-गण;
विहँसित वन-तृण-पर्ण-अवलियाँ; राजत तुहिन-हिमानी-कण-कण;
मद अलसित हेमन्त अनिल यह वहा झूमता सन-सन-सन-सन;
पीकर तव स्मिति-सुधा, हो गई विभावरी बावरी, नशीली!
प्राण, तुम्हारी हँसी लजीली।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क १० दिसम्बर १६४३

वर्षा लोके

कौन बात ऐसी है मेरी जो तुमसे हो छिपी, सलोने ?
तुम तो झाँक चुके हो मेरे अन्तस्तल के कोने–कोने ।

(१)

जब कि नील अम्बर में श्यामल घन का चँदुआ तन जाता है,
उपवन जब कि सिहर उठता है, बन कम्पन-मय बन जाता है,
उन घड़ियों में, तुम जानो हो, क्या-क्या मेरे मन भाता है,
खूब जानते हो, उस क्षण, मैं क्यों लगता हूँ कुछ-कुछ रोने;
कौन बात ऐसी है मेरी, जो तुमसे हो छिपी सलोने ?

(२)

ये घन-गन जो इधर पधारे, आज उधर भी आए होंगे;
जो मेरे कारागृह छाए, वे वाँ भी तो छाये होंगे;
जो लाए रोमांच इधर, वे, पुलक उधर भी लाये होंगे;
तुम भी भींजोगे इनसे जो आए हैं यों मुझे भिगोने;
मूरख मेघ, तुम्हारे विन ही, आए यों मेदिनी सँजोने ।

(३)

तुम्हें याद है : घन-गर्जन-क्षण नित नूतन परिरम्भण मय हैं;
ये अटपटे हवा के झोंके बने स्मरण—अवलम्बन मय हैं;
पर ये मेरे लिये यहाँ तो आज बन गये क्रन्दन मय हैं;
ये सब, सजधज कर आये हैं अपने ही में मुझे डुबोने,
और काटने दौड़ रहे हैं ये कारा के कोने – कोने ।

(४)

तुम्हें याद है वह दिन, प्रियतम, जब मदभरी घटा आई थी ?
वह दिन, जब नभ के आँगन में घन - रस - रास - छटा छाई थी ?
उस दिन तुमने भी तो हँस—हँस नवरस—फुहियाँ बरसाईं थी !
जिनसे अब तक हैं मधु-भीने मेरे हिय के कोने-कोने ।
कौन बात ऐसी है मेरी, जो तुमसे हो छिपी, सलोने ?

(५)

उस दिन हम तुम दोनों बैठे देख रहे थे बादल के दल;
उस दिन सिहर रहे थे पल–पल, प्रिय, हम दोनों के अन्तस्तल;
आज वही मेघा आये हैं भर लाए हैं मगन लगन–जल;
देखो तो, प्रिय, छलक उठे हैं मेरे लोचन–किसलय–दोने;
कौन बात ऐसी है मेरी जो तुमसे हो छिपी सलोने ?

(६)

इक बन्दी के लिये कहो तो, क्या बरसात गई, या आई ?
मेरी क्या आर्द्रा चित्रा यह ? प्रिय, मेरी क्या शरद जुन्हाई ?
क्या हेमन्त, शिशिर ऋतु मेरी ? मेरी कौन वसन्त–निकाई ?
खोकर सब ऋतु-ज्ञान, चला हूँ मैं तो आज स्वयं को खोने !
हैं ख़ाली – ख़ाली रस – भीने मेरे हिय के कोने – कोने ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क १३ जून, १९४३

नयन स्मरण-अंबर में

चमके तव अरुण-करुण नयन स्मरण-अंबर में
विकल, विमल, सजल कमल विलसे मम मन-सर में;
नयन स्मरण-अंबर में।

(१)

दो-दो निशि-नाथ उदित; आलोकित स्मरण-गगन;
रति-चकोर पंखहीन, अमित श्रमित, ध्यान-मगन,—
ऊर्ध्व ग्रीव, अपलक टक, साधे निज श्वास-व्यजन,—
हेर-हेर लोचन-शशि हहर रहा अंतर में;
चमके तव अरुण, करुण नयन स्मरण-अंबर में।

(२)

तव दृग-जलजात-लुब्ध मेरी मधुकरी लगन,—
मन-सर-विहरण-आतुर, बैठी हिय हार, सजन,
नयनोदक-सिक्त पंख, चिर बिछोह-पंकिल मन;
गुन-गुन की गान-तान उलझी अन्तर तर में
विमल, विकल सजल कमल विलसे मम मन-सर में।

(३)

मेरे प्रिय, मेरे हिय कौन हूक जागी यह?
तुमने क्या खेल रचा? कैसी लौ लागी यह?
मेरी सुध-बुध सलज्ज, तव रति-रस पागी यह,
आह-धूम्र-यान चढ़ी डोल रही जग भर में
चमके तव अरुण, करुण नयन स्मरण-अंबर में।

(४)

संस्मृति उठ आई है अंजलि में सुमन भरे,—
जिनमें दृग-चुम्बन की गन्ध उठी हरे-हरे;
बोलो, अब तुम बिन मम प्राण त्राण कौन करे?
तव दृग बिन कौन भरे सागर मम गागर में?
चमके तव अरुण, करुण नयन स्मरण-अंबर में!

जिला जेल, उन्नाव,
दिनांक ४ दिसम्बर, १९४२

प्रियतम, तव अंग-राग

गमक उठा है स्मृति में, प्रियतम, तव अंग-राग;
नासा में लहर रहा वह तव मादक पराग।

(१)

भेजी है क्या तुमने यह रस मय निज सुगन्ध;
अनिल-लहर लाई है परिरम्भण-गन्ध मन्द;
मम गत आया सम्मुख, तोड़ कठिन काल-बन्ध;
जाग उठा है फिर से मेरा विगतानुराग;
प्रियतम, तव अंग-राग !

(२)

कोई इक गन्ध-लहर, कोई मृदु एक तान,—
कोई-सी एक झलक, मन की कोई रुझान,—
कर देती है क्षण में अति गत को वर्त्तमान;
मानों संवेदन है स्मरण-सुमन-माल ताग।
प्रियतम, तव अंग-राग !

(३)

शब्द-स्पर्श-रूप-गन्ध-रस-वश है क्या जीवन ?
संवेदन-पुञ्ज-रूप हैं क्या हम सब जग-जन ?
अमल अतीन्द्रियता है क्या केवल भ्रम, साजन ?
अपनी सेन्द्रियता क्या मनुज सकेगा न त्याग ?
प्रियतम, तव अंग-राग !

(४)

अन्तर में जलता है जो यह चेतना-दीप,
जिसकी ऊष्मा से है कुसुमित उपकरण-नीप,*—
सेन्द्रियता कब आई उस दीपक के समीप ?
उस निर्गुण का गुण है पूर्ण मुक्ति, चिर विराग !
प्रियतम, तव अंग-राग !

(५)

प्रियतम, तव अंग-गंध, जो मम संस्मरण बनी,—
इन नासा रन्ध्रों में उमड़ी है अमिप-सनी,—
आई है आज त्याग वह सेन्द्रियता अपनी;
केवल तव ध्यान आज सोते से उठा जाग !
प्रियतम, तव अंग-राग !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक २१ फरवरी, १९४४

* उपकरण नीप = इन्द्रिय रूपी कदम्ब वृक्ष

ओ मेरे मधुराधर

चिटकीं ये वेले की कलियाँ, ओ मधुराधर,
छिटकी हो, मानों, तव मन्द-मन्द स्मिति मनहर;

(१)

मुकुलित हो गया अमित जीवन-उल्लास-हास,
वृन्तों पर थिरक उठा नव चेतन का विलास;
पाँखुरियों में स्पन्दित नवल जागरण-विकास,
अलिगण की गुन-गुन से गूँजे हैं नव-नव स्वर !
ओ, मेरे मधुराधर !

(२)

सर-सर-सर-सर करता नाच उठा मधु समीर,
फर-फर-फर-फर करती आई हैं विहग-भीर,
जीवन का जय-निनाद उमड़ा है गगन चीर,
लहर उठी नभ-सर में बाल अरुण-किरण-लहर;
ओ, मेरे मधुराधर !

(३)

जग में है ज्योति-हास, जड़ में चेतन-प्रकाश,
तृण-तृण में सुरस-रास, है चिन्मय महाकाश,
तव हिय क्यों हो उदास ? मानव क्यों हो निराश ?
उपल-हृदय में भी तो लहर रहा है निर्झर
ओ, मेरे मधुराधर !

(४)

निरख-निरख कलियों की मादक मुसकान अमल,—
बलि जाऊँ ! आई है तव स्मिति की स्मृति विह्वल !
मम मन-सर में विकसित हैं तव युग नयन-कमल;
परिमल मिस आई तव तन-सुवास सिहर-सिहर
ओ, मेरे मधुराधर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक १ मई, १९४४

हिय में सदा चाँदनी छाई

कुछ धूमिल-सी, कुछ उज्ज्वल-सी झिल-मिल शिशिर चाँदनी छाई,
मेरे कारा के आँगन में, उमड़ पड़ी यह अमित जुन्हाई !

(१)

यह आँगन है उस भिक्षुक-सा, जो पा जाए अति अमाप धन !
उस याचक-सा जो धन पाकर, हो जाए उद्भ्रान्त, शून्य मन !!
उसी तरह सकुचा-सकुचा-सा आज हो रहा है यह आँगन ,
कहाँ धरे यह विपुल संपदा, फैली जिसकी अमित निकाई ?
उमड़ पड़ी यह शिशिर-जुन्हाई !

(२)

अरे, आज चाँदी वरसी है मेरे इस सूने आँगन में,
जिससे चमक आगई है इन मेरे भूलुण्ठित कण-कण में,
उठ आई है एक पुलक मृदु, मुझ वन्दी के भी तन-मन में ;
भावी की स्वप्निल फुहियों में मेरी भी कल्पना नहाई !
उमड़ पड़ी यह अमित जुन्हाई !

(३)

मैं हूँ वन्द सात तालों में, किन्तु मुक्त है चन्द्र गगन में ;
मुक्ति वह रही है क्षण-क्षण इस मन्द प्रवाहित शिशिर-व्यजन में
और, कहो, मैंने कव मानी बन्धन-सीमा अपने मन में ?
जग-जन-गण का मुक्ति सँदेसा ले आई चन्द्रिका-लुनाई !
उमड़ पड़ी यह शिशिर-जुन्हाई !

(४)

मैं निज काल कोठरी में हूँ, औ' चाँदनी खिली है वाहर ;
इधर अँधेरा फैल रहा है, फैला उधर प्रकाश अमाहर ;
क्यों मानूँ कि ध्वान्त अविजित है, जब है विस्तृत गगन उजागर
लो ! मेरे खपरैलों से भी एक किरण हँसती छन आई !!
उमड़ पड़ी यह शिशिर-जुन्हाई !

(५)

मास, वर्ष की गिनती क्यों हो वहाँ, जहाँ मन्वन्तर जूझें ?
युग-परिवर्तन करने वाले जीवन—वर्षों को क्यों बूझें ?
हम विद्रोही !! कहो, हमें क्यों अपने मग के कंटक सूझें ?
हमको चलना है !!! हमको क्या ? हो अँधियारी या कि जुन्हाई !
हिय में सदा चाँदनी छाई ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक ८ फरवरी, १९४४

प्राण, तुम मेरे हृदय-दुलार

प्राण, तुम मेरे हृदय दुलार; अमिय-मय मेरे करुणागार;
प्राण, तुम मेरे हृदय दुलार !

(१)

तुम मेरे दिवसों के उद्यम, मम निशीथ के स्वप्न,
तुम मेरे जीवन-विहान की नव अरुणा छवि-सार;
प्राण, तुम मेरे हृदय दुलार !

(२)

तुम मेरे कौमार्य्य-काल की चपल केलि अभिराम,
तुम मेरे यौवन-वसंत के उच्छल मद अभिसार,
प्राण, तुम मेरे हृदय-दुलार !

(३)

तुम जीवन-अपराह्न-प्रहर के चिंतन गहन गभीर;
चिर अनुराग-विराग-भरी तुम मम कविता सुकुमार,
प्राण, तुम मेरे हृदय-दुलार !

(४)

तुम मम जनम जनम के संगी, फिर भी नित प्राप्तव्य,
मम विकार मय सतत टोह के तुम सुलक्ष्य अविकार,
प्राण, तुम मेरे हृदय-दुलार !

(५)

मेरे प्रात समीरण की तुम शीतल, मन्द सुगन्ध,
तुम मेरी धूमिल सन्ध्या के नूतन ज्योति-प्रसार,
प्राण, तुम मेरे हृदय-दुलार !

(६)

मेरे धूल भरे माथे की तुम हो कुंकुम-रेख,
तुम मेरे सुहाग की बिन्दी, तुम मम प्राणाधार,
प्राण, तुम मेरे हृदय-दुलार !

(७)

ज़ीवन भर खेला हूँ मैं जो अनल-फाग, दिन-रैन,
वह थी कृपा तुम्हारी, वर्ना, मैं क्या पाता पार
प्राण, तुम मेरे बल-आगार !

(८)

मेरे आँगन सदा जली है होली प्रबल प्रचण्ड,
समिधाओं-सी हुईं अनेकों आकांक्षाएँ क्षार;
रहे हो, पर, तुम मम आधार ।

(९)

सदा विहँसते रहो स्नेह वश, रहो सदा अनुकूल,
सह जाऊँगा मैं हँस-हँस ये लपटें, ये अंगार,
अमिय-मय मेरी तुम मनुहार ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक २७ फरवरी, १९४४

स्मरण कंटक

ग्रीव में वह तव मृदु भुज-माल, स्मरण-कंटक बन आई, बाल;

(१)

तुमने आकर, विहँस, प्रियतमे, नयनों में भर प्यार,
निज भुज-माला इस ग्रीवा में डाली थी उस काल,
स्मरण-शर वह बन आई, बाल।

(२)

इस वक्षस्थल पर शिर रख, तुम मौन, शांत, गम्भीर,—
देख रहीं थी हमें दृगों से प्राणार्पण-रस ढाल,
स्मरण वे शूल बने हैं, बाल।

(३)

हँसी-हँसी में किसी सखी ने भर दी थी तव मांग,
उसकी झाईं हमको अब भी करती है बेहाल,
स्मरण सब शूल बने हैं, बाल !

(४)

वह गुलाल मर्दित तव मुख छवि, वे रतनारे नैन,—
स्मृति में आए, मानों आया इक तूफ़ान विशाल;
स्मरण शर बन आए हैं, बाल !

(५)

प्रिय, तुम क्यों हो इतनी अच्छी, सुघड़, सौम्य, रस-खान ?
क्यों कर दिया हमारा जीवन तुमने सफल, निहाल ?
लखो, अब ये स्मर-शूल कराल !

(६)

हम समझे थे कि हैं सदा के हम कंटकित बबूल ।
पर तुमने हँस कहा : सजन, तुम ? तुम हो हरित रसाल;
आज वे स्मरण बने हैं काल !

(७)

प्रिये, हुआ है आज हमारा छन्द-भंग, रस-भंग;
विप्रयोग में साज हमारे हुए विषम, बेताल;
संस्मरण बन आए हैं व्याल !

(८)

काल चक्र पर चढ़ आते हैं ये त्यौहार अनेक,
क्या नक्षत्र दुःख देने को चलते हैं निज चाल ?
धन्य यह चलन-कलन विकराल ।।

(९)

लखो आ रही है होली, जब तुम हो इतनी दूर,
कैसे बतलाएँ कि हमारा कैसा होगा हाल ?
तुम्हारे बिन क्या अगर, गुलाल ?

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक १ मार्च, १९४४

फागुन में सावन

इस फागुन में भी घिर आए, काले-धौले मेघ गगन में;
मानो अमित उपल बरसाने, आए ये मेरे आँगन में,

(१)

लहर रही है मदमाती-सी यह फाल्गुनी बयार रसीली,
कर मधुपान हुई है मानों निपट बावरी और नशीली,
हहर-हहर कर छोड़ रही है मदिर श्वास निज सीली-सीली,
ना जाने कितना मद है इस उच्छृङ्खल उन्मुक्त व्यजन में !
इस फागुन में भी घिर आए काले-धौले मेघ गगन में !

(२)

आम, नीम, जामुन, पीपल की शाखें झूल रही हैं झूला;
मानों फागुन में ही आया वह सावन पथ भूला-भूला !
आई वर्षा यहाँ शिशिर में, पावस में किंशुक-वन फूला !!
आज प्रकृति वैरिन ने यह ऋतु-रार मचाई मेरे मन में,
इस फागुन में ही घिर आए काले धौले मेघ गगन में !

(३)

मेरे सजन सलौने, तुम बिन मुझको फागुन ही दूभर था;
कैसे यह होली बीतेगी; मुझको तो इसका ही डर था;
सावन, फागुन, अलग-अलग भी, मेरे लिये निपट दुस्तर था
अब तो होली और श्रावणी आई सँग-सँग इस निर्जन में !
कैसे कर पाऊँगा, प्रियतम, यह ज्योतिष-अन्याय सहन मैं ?

(४)

जब फुहियाँ-सुइयाँ चुभती हैं, उठते हैं जब घन क्षण-क्षण में,
सन-सन-सन-सन सनन सनकती पवन लिपटती है जब तन में,
तब, प्रियतम, तव परिरंभण की उत्कंठा उठती है मन में;
क्या बतलाऊँ क्या जादू है असमय के भी इन घन-गन में !
बना चुके हैं मम मन उन्मन फागुन के ये मेघ गगन में !

(५)

स्मरण-गगन में चमक रहे हैं वे तव युग लोचन रस-राते,—
जब कि कनखियों से मुझको तुम निरख रहे थे आते-जाते;
दृग से दृग जब मिल जाते थे तब तुम थे कुछ-कुछ मुसकाते,
आह ! कहाँ वे नयन तुम्हारे ! और कहाँ मैं इस बंधन में !!
क्यों न आग लग जाए अब इन निरगुन फागुन के घन-गन में,

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक १८ फरवरी, १६४४

आज है होली का त्यौहार

कहाँ हो तुम मेरे सरकार ? आज है होली का त्यौहार !
कहाँ हो तुम, मेरे सरकार ?

(१)

धधक रही है अन्तर-तर में विरह-ज्वाल विकराल,
आज लगा है मेरे हिय में होली का अंबार !
कहाँ हो तुम, मेरे सरकार ?

(२)

यहाँ हो रहे हैं जल-भुन कर सकल मनोरथ क्षार !
यहाँ लगी है संस्मरणों की इन्धन-राशि अपार !!
आज है होली का त्यौहार !

(३)

मेरे प्राण पिरीते मंजुल, जनम-जनम के मीत,
अव तो असह हो रहा है यह फागुन का अविचार;
आज है होली का त्यौहार !

(४)

जदपि रमे हो मम शोणित के कण-कण में तुम, प्राण,
फिर भी व्याकुल हूँ करने को मैं तव साक्षात्कार;
कहाँ हो तुम, मेरे सरकार ?

(५)

मुख-शशि-चित्र निरख किमि धारे मन-चकोर जिय धीर ?
वह उत्सुक है कि ले वलाएँ सम्मुख बारंवार,
कहाँ हो तुम, मेरे सरकार ?

(६)

तुम विन कैसा राग-रंग ? प्रिय, कहाँ अनंग-तरंग ?
कैसे उठे तुम्हारे विन मम मन-वीणा-झंकार ?
कहाँ हो तुम, मेरे सरकार ?

(७)

यदि तुम सन्निधान होते तो यह अपनी भुज-माल,—
डाल तुम्हारी ग्रीवा में मैं करता तव शृंगार;
आज है होली का त्यौहार ?

(८)

उनकी क्या होली-दीवाली ? उनके क्या त्यौहार ?
जिनने निज मस्तक पर ओढ़ा जन-विप्लव का भार !!
कर्म-पथ है खाँडे की धार !

(९)

यह सच है; फिर भी मानव तो मानव ही है, प्राण;
हिय में होने लगती ही है मनोरथों की रार !
मदिर होते ही हैं त्यौहार !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक ६ मार्च, १६४४
होलिका-दहन संवत् २०००

तुम मम मन्दार-सुमन

तुम मम विद्रुम-लतिका, तुम मम मंदार-सुमन,*
तुम मम मृदु पारिजात, तुम मम यूथिका-चयन,
तुम मम मंदार-सुमन !

(१)

शत-शत सौंदर्य-सार न्यौछावर है तुम पर,
अति अतुलित सौकुमार्य है तव पग-गति पटतर;
सरसिज-कुड्मल से भी सुन्दर हैं दृग हिय-हर,
तुम मेरे राका-पति; हैं चकोर मम लोचन,
तुम मम मंदार-सुमन !

---

* मन्दार-सुमन=प्रवाल पुष्प अथवा स्वर्ग-सुमन

(२)

मेरे संध्या-नभ के तुम ही तो हो कुंकुम,
मेरे जीवन-मग की ज्योति-किरण भी हो तुम,
मम अपूर्ण चाहों के तुम ही हो इच्छा-द्रुम,*
तुम ही में केन्द्रित है मेरी यह हृदय-लगन;
तुम मम मंदार-सुमन !

(३)

जब मेरे प्राणों में तुम पाहुन बन आए,—
जब मम मन-गगन बीच, तुम नव घन बन छाए,—
अरुण नयन वाले प्रिय, जब तुम मम मन भाए,—
अहो, तभी से मेरा पूर्ण हुआ अपना-पन !
ओ मेरे स्नेह-सुमन !

(४)

प्रिय, मेरे हिय में तुम आए चोरी-चोरी,
औ' ले ली निज कर में मेरी जीवन-डोरी;
रंजित है तव रँग में अब मम चादर कोरी;
मुझको अब कहते हैं सभी तुम्हारा चारण;
ओ मम मंदार-सुमन !

---

* इच्छा द्रुम=कल्प वृक्ष

(५)

अब कैसी लोक लाज ? अब क्या संकोच, सजन ?
क्यों न आज बंध तोड़ बहे मुक्त स्नेह-व्यजन ?
हम तुम मिल क्यों न करें आज नवल नीति-सृजन ?
जिस पर चल कर पायें निज को ये सब जग-जन;
ओ मम मंदार-सुमन !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक १० अप्रैल, १९४४

काल्पनिक अवसर

लरज-लरज हिय सिरज रहा है नव-नव मधुर काल्पनिक अवसर,
जबकि तुम्हारी नित नूतन छवि मैं अवलोकूँगा लोचन भर !

(१)

लगन-मगन, उन्मन-उन्मन मन, तन्तुवाय* सम सूत्र-ध्यान-रत,
अपनी चिन्तन-अंगुलियों में चुन-चुन मदिर विचार-तन्तु शत—
मनोरथों का ताना-बाना, प्रमुदित पूर रहा है संतत;
मेरे चिन्मय-अम्बर में अब लहर उठा है तव पाटम्बर !
लरज-लरज हिय सिरज रहा है नव-नव मधुर काल्पनिक अवसर !

---

*तन्तुवाय=बुनकर, जुलाहा

(२)

सोच रहा हूँ मैं : इस हिए की क्या गति होगी तव सम्मुख, प्रिय ?
उस क्षण कैसे सह पाएगा यह हिय सहसा उतना सुख, प्रिय ?
यह तो उस स्मृति से ही कँप-कँप देने लगा अभी से दुख, प्रिय !
अहो भाग्य यदि उस दर्शन-क्षण, छोड़ें प्राण-विहग निज पिंजर !
लरज–लरज हिय सिरज रहा है नव-नव मधुर काल्पनिक अवसर !

(३)

कई-कई मनुहारें संचित हैं उस भावी दर्शन-क्षण में,
बाँध रहा हूँ कई-कई सौ मंसूबे मैं अपने मन में,
यों बलि जाऊँगा मैं, जब तुम आओगे इस शून्य सदन में !
यों ही सोच-सोच धाराएँ वह चलती हैं दृग से झर-झर।
लरज–लरज हिय सिरज रहा है नव-नव मधुर काल्पनिक अवसर !

(४)

जब चिन्तन-मीलित निज लोचन, तुम खोलोगे धीरे-धीरे,—
जब मम हिय-रति, नयन-तुला पर, तुम तोलोगे धीरे-धीरे,—
जब मम प्यासे श्रवणों में तुम मधु घोलोगे धीरे-धीरे,—
तब क्या दशा हृदय की होगी, जब तुम मुसकाओगे, प्रियवर ?
लरज-लरज हिय सिरज रहा है नव-नव मधुर काल्पनिक अवसर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क २२ अप्रैल, १९४४

जागो, मेरे प्राण-पिरीते

मेरे प्राण पिरीते, जागो, मेरे प्राण-पिरीते !
मुदित वह रहा प्रात समीरण, स्वप्निल निशि-क्षण बीते,
जागो, मेरे प्राण-पिरीते !

(१)

गगनाम्बुधि में डूबे थककर, तरण-निरत सब तारे,
जो दो-चार बचे हैं वे भी, लगते हैं हिय-हारे !
उच्छल अगम प्रकाश-जलधि से इनको कौन उबारे ?
इस क्षण अरुणा ने निज स्मिति से नभ, जल, थल, सब जीते,
जागो, मेरे प्राण-पिरीते !

(२)

द्विज कुल ने जागरण मन्त्र निज नीड़ों से उच्चारे;
लतिकाओं ने, नव जागृति के, हिल-मिल किये इशारे;
कब तक सोओगे तुम मेरे बारे, नयन-उजारे ?
मुसकाओ, जागरण-अमीरस दृग से पीते-पीते !
जागो, मेरे प्राण-पिरीते !

(३)

बलि जाऊँ ! खोलो तो अपनी ये अलसाई अँखियाँ,
वैसे ही जैसे नव कलियाँ खोल रही हैं पँखियाँ !
बुला रही हैं तुम्हें, चहक कर सब विहङ्गिनी सखियाँ;
निरखो, मेरे ललन, प्रात के ये नव रँग मन चीते,
जागो, मेरे प्राण-पिरीते !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क ६ मई, १६४४

मेरा मन

तव ढिंग ही मँडराया करता है मेरा मन !
जैसे मँडराते हैं जलजों के ढिँग अलिगण !

(१)

कभी मृदुल चरणों पर, कभी मधुर श्रीमुख पर,—
कभी सघन केसों पर, कभी दृगों पर रुककर,—
करता ही रहता है मन गुन-गुन, ओ सुखकर ?
उठती ही रहती है मम तन-मन में सिहरन;
तव ढिँग ही मँडराया करता है मेरा मन !

(२)

यह मन तव स्मिति-द्युति में करता है नित्य स्नान;
और सतत गाता है, प्रियतम, तव विमल गान;
तव दृग-संस्मरणों में अटके हैं विकल प्राण;
उमड़-उमड़ आते हैं मेरे लोचन-जल-कण !
तव ढिंग ही मँडराया करता है मेरा मन !

(३)

यद्यपि खण्डित-सा है मेरा कल्पना-यान,
पर, भरता रहता हूँ इसके बल मैं उड़ान;
मैं धनेश का लाऊँ कैसे पुष्पक-विमान ?
मैं तो अपने ही बल करता हूँ गगन-तरण !
तव ढिंग ही रहता है मेरा यह उन्मन मन !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क १२ मई, १६४४

प्राणधन, यह मदमत्त बयार

(पीलू)

सुरभित बही बयार, प्राणधन, मादक बही बयार,
अठखेलियाँ द्रुमों से करती रुक-झुक बारंबार;
प्राणधन, बही विमुक्त बयार !

(१)

वल्लरियों को नाच नचाती,—
करती लास्य - प्रसार,—
पहनाती नव किसलय-दलको,—
मधु मर्मर - स्वर - हार,—
प्राणधन, मादक बही बयार !

(२)

तृण संकुलित भूमि पर उमड़ी
शाद्वल - लहर अपार ,
मानों अवनि-उदर पर उभरा
हास - त्रिवलि - विस्तार ;
प्राणधन, वही विमुक्त बयार !

(३)

व्यजन डुलाती, वसन उड़ाती,—
करती रस - संचार ,—
नीवी-बन्धन को खिसकाती,—
गाती राग मलार,—
प्राणधन, मादक वही बयार !

(४)

इस बयार के शीत परस से
मची हिये में रार,
जाग उठे हैं परिरंभण के
सोए हुए विचार;
प्राणधन, मादक वही बयार !

(५)

मधु पराग नासा में छाया,
स्मृति के खुले किंवार,
विगत और आगत भावों को
कैसे रखूँ सँवार ?
प्राणधन, यह मदमत्त बयार !

(६)

शीतल, मन्द, सुगन्ध पौन भी
हिय को रही विदार ,
यह ले आई है झंझा का
निर्मम हा - हाकार !
प्राणधन, यह मदमत्त बयार !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक ६ अगस्त, १६४४

मम मन-पंछी अकुलाया

प्रिय, तव स्वेद-खेद हरने को मम मन-पंछी अकुलाया !
धवल मनोरथ-पंख, व्यजन सम, फर-फर करता उड़ धाया;
मम मन-पंछी अकुलाया !

(१)

मंजु मुखाम्बुज मंडित होगा व्यग्र घर्म-सीकर-कण से;
बरबस झर-झर उठती होंगी बूँदें चिंतित लोचन से;
नित संताप-ताप की ऊष्मा उठती होगी मृदु तन से;
तव नव देह-प्रसून, प्राणधन, अब तो होगा कुम्हलाया;
खेद-स्वेद हरने को मेरा यह मन-पंछी अकुलाया !

(२)

मम कल्पना-गगन में फहरीं मेरे पंछी की पाँखें,
तुम्हें विकल लख भर आई हैं उसकी स्मृति-रूपा आँखें;
तव उपचार-भाव ये मेरे किमि तव सेवा-रस चाखें?
यही सोचकर निज मन ही मन मम मन-पंछी सकुचाया;
प्रिय, तव खेद-स्वेद हरने को मन-विहङ्ग मम अकुलाया!

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक १६ अगस्त, १६४४

ढरक बहो मेरे रस-निर्झर

इस सूखे अग-जग-मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस निर्झर,
अपनी मधुर अमिय धारा से प्लावित कर दो सकल चराचर;

(१)

ना जाने कितने युग-युग से प्यासे हैं जीवन-सिकता-कण,
मन्वन्तर से अंतरतर में होता है उद्दाम तृषा-रण;
निपट पिपासाकुल जड़-जंगम, प्यास भरे जगती के लोचन,
शुष्क कण्ठ, रसहीन जीह, मुख; रुद्ध प्राण, संतप्त हृदय मन;
मेटो प्यास-त्रास जीवन का; लहरे चेतन सिहर-सिहर कर,
इस सूखे अग-जग-मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस निर्झर !

(२)

इतनी रस-शून्यता दानवी जग-जीवन में कैसे आई ?
ज्वालामुखियों की ये लपटें जग-मग में किसने भड़काई ?
पढ़ा सृजन का पाठ प्रकृति ने ! अहं भावना तब उठ धाई,
अरे, उसी क्षण से कण-कण में मृषा तृषा यह आन समाई !
फैले अनहंकार भावना, मिटे संकुचित सीमा-अन्तर,
इस सूखे अग-जग-मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस-निर्झर !

(३)

आज शिंजिनी‡ आत्मार्पण की चढ़ जाए जीवन-अजगव* पर,
ऊर्ध्व लक्ष्य-वेधन-हित छूटें बलिदानों के नित नव-नव शर,
ऋतुमय¶ अमृत-कुम्भ बिंध जाये, जब हो इन बाणों की सर-सर
शत सहस्र मधु-रस-धाराएँ बरस उठें सहसा झर-झर कर;
हो शवलित§ वसुधा-अलम्बुषा†; मुदमय नृत्य कर उठे थर-थर,
इस सूखे अग-जग-मरुथल में ढरक बहो, मेरे रस-निर्झर !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक १० नवम्बर, १९४४

‡ शिंजिनी=प्रत्यंचा, * अजगव=शंभु धनुष, ¶ ऋतुमय=यज्ञमय,
§ शवलित=जल सिंचित, † अलम्बुषा=एक प्रकार की अप्सरा ।

सजल नेह-घन-भीर रहे

जग के मन-अम्बर में निशि-दिन सजल नेह-घन-भीर रहे,
दामिनि-रेखा-सी करुणा की हिय में एक लकीर रहे !

(१)

सदा प्रेम-घन-फुहियाँ बरसें; जग-रोमावलियाँ सिहरें,
नव सनेह-रस भीने-भीने; दिशि-दिशि सब जग-जन विहरें,
सकल दिशाएँ हरी-भरी हों; धरती माँ हुलसे फूले,
जग-उपवन में स्नेह-कोकिला डाली-डाली पर झूले;
स्नेह-मलय-घनसार*-भार से श्वास - समीरण धीर बहे,
जग के नील गगन में निशि-दिन सजल नेह-घन-भीर रहे !

* घनसार=कर्पूर

(२)

जग के तुङ्ग बुद्धि-भूधर से रस के झरने फूट चलें !
कठिन उपल के वक्षस्थल से प्रेमल स्रोत अटूट चलें !!
आप्लावित हो बुद्धि-शैल की तर्क-रूप घाटी-घाटी,
करुणामयी हो उठे सहसा जन-विचार की परिपाटी,
धृति आए; उछाह लहराए; मनुज न रंच अधीर रहे;
जग के मन-अंबर में निशि-दिन सजल नेह-घन-भीर रहे !

(३)

उच्च शैलजा प्रेम सुरधुनी आए कल-कल-ध्वनि करती,
निपट अकूला होकर उमड़े, जग में वत्सलता भरती;
एक तान का तारतम्य हो; निज-पर-का आभास मिटे,
संग्रह का विग्रह मिट जाए; यह संघर्षण-त्रास मिटे,
मानव-हिय में मानव के प्रति सह-अनुभव की पीर रहे,
जग के नील गगन में निशि-दिन सजल नेह-घन-भीर रहे !

(४)

इतनी विस्तृत, इतनी चौड़ी हो इस मानव की छाती,
जिसे निरख कर स्वयं सृजन भी कहे, लखो, मेरी थाती;
मानव का अति क्षुद्र घरौंदा जग का प्राङ्गण बन जाए !
यों सीमा में निःसीमा का विस्तृत चँदुआ तन जाए !!
रहे न रण-सज्जा, न दुर्ग ही, औ' कहीं न प्राचीर रहे;
जग के नील-गगन में निशि-दिन सजल नेह-घन-भीर रहे !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक २ फरवरी, १९४४

रस फुहियाँ

(भैरवी तिताला)

(१)

रस फुहियाँ झगरीं, गुजरिया, रस फुहियाँ झगरीं;
मेरे लगन-गगन में बरबस लरि-लरि उमरि परीं;
गुजरिया, रस फुहियाँ झगरीं ।

(२)

सूखे नेह-विटप कीः डरियाँ भइयाँ हरी-हरी ।
लहरि-लहरि द्रुम पर्णावलियाँ छिन-छिन कँपि सिहरीं;
गुजरिया, रस-फुहियाँ झगरीं ।

(७)

उमड़ि-उमड़ि मन-घन घिरि आए गरजत घरी-घरी ।
आशा-पद-नूपुर-झंकृतियाँ, दामिनि देखि, डरीं ।।
गुजरिया, रस फुहियाँ बगरीं ।

डिस्ट्रिक्ट जेल, गाज़ीपुर,
दिनांक २४ फरवरी, १९३१

जोगी

खड़े हैं कब से हम अनजान !
नग्न चरण, आँखें आकुल, हिय विक्षत, मुख अम्लान ।
खड़े हैं कब से हम अनजान !

(१)

हम बरसों से अलख जगाते रहे तुम्हारे द्वार,
तनिक झरोखे से झुक झाँको, हुलसा दो ये प्रान;
खड़े हैं कब से हम अनजान !

(२)

हम हैं अलमस्ताने जोगी, हम क्यों माँगें भीख ?
ओ लजवन्ती, ले लो आए देने हम हिय-दान;
खड़े हैं हम कब से अनजान !

(३)

तुमने जी भर खूब दिया है; अब न भीख की चाह,
इतना प्यार, नेह, रस इतना जीवन का सम्मान;
खड़े हैं हम कब से अनजान !

(४)

इतना लिया, दिया इतना, फिर भी हम खड़े अबोध,
जाएँ कहाँ, बताओ, ले-देकर इतना सामान ?
खड़े हम इसीलिए अनजान !

(५)

अब तो यह विश्वास जम गया कि बस यहीं है शान्ति,—
यहीं तुम्हारे द्वारे है इस जीवन का कल्याण;
खड़े हम इसीलिये अनजान !

रेलपथ; इटावा से कानपुर,
दिनांक २८ सितम्बर, १६३१

प्रथम प्यार का चुम्बन

(बिहाग)

मत ठुकराओ मुझे, सलौनी, मैं हूँ प्रथम प्यार का चुम्बन ।
मुझे न हँस-हँस टालो, मैं हूँ मधुरी स्मृतियों का अवलम्बन,

(१)

पूर्ण घूँट हूँ प्रथम प्यास की,
मैं संस्मृति हूँ अनायास की;
नई फाँस के नवल त्रास की—
मैं पीड़ा हूँ नवोल्लास की;
स्फुरित अधर की भाषा हूँ, मैं आतुर; मदिर, अलस परिरम्भण ।
मत ठुकराओ मुझे सलौनी, मैं हूँ प्रथम प्यार का चुम्बन ।

(२)

मैं यौवन-पथ का लघु रज-कण, लोक लाज का मैं उल्लंघन,
अधर-मिलन की मृदु घटिका मैं, हृदय मिलन का मैं सुस्पन्दन;
मैं हूँ तन्मय तान-तरलता,
उत्कंठा की हूँ अविरलता;
अचल अनवरत नेह-ग्रन्थि की,—
मैं हूँ उलझी हुई सरलता;
प्रबल प्रतीक्षा की सुसफलता; मैं हूँ सजनि, चिरन्तन कम्पन;
मत ठुकराओ मुझे, सलोनी, मैं हूँ प्रथम प्यार का चुम्बन।

श्री गणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर,
दिनांक २१ नवम्बर, १९३१

अरी मानस की मदिर हिलोर

अरी मानस की मदिर हिलोर !
मत बह, मत उठ, मत लहरा तू तेरा ओर न छोर;
अरी मानस की मदिर हिलोर !

(१)

गुप-चुप मधुप पान कर आया रस बूँदें दो चार,
अब न उमड़ तू, मम नीरवता में मत भर रव घोर;
अरी मानस की मदिर हिलोर !

(२)

घहराने लहराने की है नहीं आज्ञा आज,
यों ही आहों के मिस छलका दे वेदना अथोर,
अरी मानस की मदिर हिलोर !

(३)

प्यार कहानी हिय अरुझानी, छानी रखियो खूब
बहुत बार धोका दे देती है लोचन की कोर;
अरी मानस की मदिर हिलोर !

श्री गणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर,
दिनांक १३ अक्तूबर, १९३१

कुहू की बात

चार दिन की चाँदनी थी, फिर अँधेरी रात है अब
फिर वही दिग्भ्रम, वही काली कुहू की बात है अब !

(१)

चाँदनी मेरे जगत की भ्रान्ति की है एक माया
रश्मि रेखा तो अथिर है; नित्य है घन तिमिर छाया
ज्योति छिटकी थी कभी, अब तो अँधेरा पाख आया
रात है मेरी; सजनि, इस भाग्य में नव प्रात है कब ?
फिर अँधेरी रात है अब ।

(२)

इस असीमाकाश में भी लहरता है तिमिर-सागर;
कौन कहता है: गगन का वक्ष है अहनिशि उजागर ?
ज्योति आती है क्षणिक उद्दीप्त करने तिमिर का घर,
अन्यथा तो अन्ध-तम का ही यहाँ उत्पात है सब;
फिर अँधेरी रात है अब।

(३)

मैं अँधेरे देश का हूँ चिर प्रवासी सतत चिन्तित,
हृदय विभ्रम जनित आकुल अश्रु से मम पन्थ सिञ्चित;
ओ प्रकाश-विकास, ओ नव रश्मि हास-विलास रंजित,
मत चमकना अब, निराश्रित हूँ, शिथिल-से गात हैं सब;
फिर अँधेरी रात है अब ?

श्री गणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर,
दिनांक ७ मई, १९३६

प्रिय ! लो, डूब चुका है सूरज

प्रिय ! लो, डूब चुका है सूरज, ना जानें कब का;
वचन तुम्हारा भंग हुआ है, क्या जानें कब का ?

(१)

साँध्य-मिलन के आश्वासन पर काटीं घड़ियां दिन की,
बड़े चाव से हमने जोही बाट सांझ के छिन की;
दिन की मेघ-विलास-वेदना, किसी तरह सह डाली,
इसी भरोसे कि तुम सांझ को आओगे वनमाली !
सँध्या हुई; अंधेरा गहरा हुआ; मेघ मँडराए;
गहन तमिस्रा ने आकर झींगुर-नूपुर झनकाए,
अब भी आ जाओ, देखो तो, कितनी सुन्दर बेला,
अंधकार, लोकोपचार को, ढांक चला अलबेला,
पथ पंकिल है, किन्तु शून्य है, नहीं जगजन-मेला,
अँधियाले में खड़ा हुआ है, मम मन-भवन अकेला,
ऐसे समय पधारो, साजन ! छोड़ भरम सब का,
देखो, डूब चुका है सूरज, ना जाने कब का !

(२)

शून्य भवन में सजग सँजोई, मैंने दीपक बाती,
इधर मेघ-माला ने ढँक ली है अम्बर की छाती;
लुप्त हो गई अंधकार में, नभ की दीपावलियाँ,
निबिड़-तिमिर में पड़ी हुई हैं, जग-मग की सब गलियाँ,
किन्तु तुम्हें संकेत-दान-हित मेरा घर जगमग है;
आओगे तो तुम देखोगे प्रहरी यहाँ सजग है,
क्यों न आज तुम लिये लकुटिया, कीच गूँधत आओ ?
क्यों न चरण-प्रक्षालन-हित मम, दृग-झारी ढुलकाओ,
पंथ पङ्कमय सही, किन्तु मत आने में अलसाओ;
तनिक देर को तो आकर मम शून्य-सदन हुलसाओ;
यदि आ जाओ तो मिट जाए, खटका अब-तब का,
प्रिय ! लो, डूब चुका है सूरज ना जाने कबका ?

श्री गणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर,
दिनांक २६ जून, १६३६

पावस-पीड़ा

मेघा, आओ मोरे अँगना, दुन्दुभि आज बजाओ, हाँ
मेरे पिंजरे के शुकदेव, आज तुम मंगल गाओ, हाँ

(१)

मेरे साजन आज पधारे
सहसा आए मेरे द्वारे,
हुए सफल मम लोचन-तारे,
मैं जीती, पिय हारे, हारे।

ओ दल बादल के अम्बार ! मूसलाधार गिराओ, हाँ
मेघा, आओ मोरे अँगना, दुन्दुभि आज बजाओ, हाँ

(२)

पपिहा, मत बिलखो कि 'पी-कहाँ' ?
ओ, पागल, पी-यहाँ, पी-यहाँ,
मत ढूँढ़ो उनको जहाँ-तहाँ
सजन जहाँ रम रहे, हैं वहाँ,
पपिहा 'पिऊ यहाँ'—का नवल सँदेसा आज सुनाओ हाँ,
मेरे पिंजरे के शुकदेव आज तुम मंगल गाओ, हाँ,

(३)

वहो पवन लिपटी-लहराती,
हौले-हौले या हहराती,
अब तो तुम हो बहुत सुहाती
आए हैं मम सजन सँगाती;
पावस-बिथा हुई है दूर, पवन, तुम अब मँडराओ हाँ,
मेघा आओ मेरे अँगना, दुन्दुभि आज बजाओ हाँ,

श्री गणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर,
दिनाङ्क १ जुलाई, १९३९

साजन लेंगे जोग री

आज सुना है, सखी हमारे साजन लेंगे, जोग री,
हमें दान में दे जाएँगे वे विकराल वियोग, री।

(१)

इस चौमासे के सावन में घन बरसें दिन रात, री,
ऐसी ऋतु में भी क्या होती कहीं जोग की बात, री,
घन-धारा में टिक पाएगी कैसे अंग भभूत, री,
धुल जाएगी इक छिन भर में, यह विराग की छूत, री,
अभी सुना है सजन गेरुए वस्त्र रंगेंगे आज, री,
और छोड़ देंगे वे अपनी रानी, अपना राज, री
हिय-मन्थन-शीला रति में भी यदि न विराग-विचार, री,
तो फिर बाह्य आवरण भर में है क्या कुछ भी सार, री?
प्रेम नित्य संन्यास नहीं, तो अन्य योग हैं रोग, री,
सखी, कहो ले रहे सजन क्यों व्यर्थ अटपटा जोग, री?

(२)

हमने उनके अर्थ रँग लिया निज मन गैरिक रङ्ग, री,
और उन्हीं के अर्थ सुगन्धित किये सभी अँग-अङ्ग, री,
सजन-लगन में हृदय हो चुका मूर्तिमंत संन्यास, री,
अब जोगी बन छोड़ेंगे क्या वे यह हिय-आवास, री ?
सजनि, रंच कह दो उनसे : है यह बेतुका विचार, री,
उनके रमते-जोगी-पन से होगा जीवन भार, री,
चौमासे में अनिकेतन भी करते कुटी प्रवेश, री,
उनको क्या सूझी कि फिरेंगे वे सब देश-विदेश, री,
उनका अभिनव योग बनेगा इस जीवन का सोग, री,
सखी, नैन कैसे देखेंगे उनका वह सब जोग, री

श्री गणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर,
दिनांक २८ जुलाई, १९३९

अस्थिर बने रहो तुम तारे

अस्थिर बने रहो तुम तारे
रहो तपकते, कँपते निशि दिन तुम, ओ गगन-दुलारे
अस्थिर बने रहो तुम तारे ।

(१)

कम्पन के झूले में झूलो,
अम्बर के उपवन में फूलो,
गुँथे नैशमाला में विहँसो, क्षण-क्षण साँझ सकारे,
अस्थिर बने रहो तुम तारे ।

(२)

प्रखर सूर्य्य सम, या कि इन्दु सम
तुम सुदूर कल्पना-बिन्दु सम,
दूर लक्ष्य सम, झिल मिल, दुर्गम, कब से गगन पधारे ?
अस्थिर बने रहो तुम तारे।

(३)

इस त्वदीय इतिहास-पाश में
इस नित नैश विलास-रास, में
कोटि-कोटि मन्वन्तर, होकर भ्रमित श्रमित, हिय हारे;
अस्थिर बने रहो तुम तारे।

(४)

तव प्राङ्गण यह क्या अनन्त है ?
या कि कहीं यह अन्त वन्त है ?
कब तक, कहो, सुलझ पायेंगे चिर रहस्य ये सारे ?
अस्थिर बने रहो तुम तारे।

श्री गणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर,
दिनांक २३ मार्च, १९४०
होलिकोत्सव

हिंडोला

(१)

आओ, बलिहारी जाऊँ, तुम झूलो आज हिंडोले;
मैं झोटे दूँ, तुम चढ़ जाओ झूले पे अनबोले।
मेरी अमराई में झूला पड़ा रसीला, बाले,
चँवर डुलाते हैं रसाल के रसिक पर्ण हरियाले;
रस-लोभी अलिगण मँडराते हैं काले भौंराले,
सूना झूला देख उभर आते हैं हिय में छाले;
आओ, पैंग बढ़ाओ झूले की तुम हौले-हौले,
सजनि, निछावर हो जाऊँ, तुम झूलो आज हिंडोले!

(२)

भोली सहज लाज-मोहकता निज नयनों में घोले,—
आकर सुहरा दो मेरे हिय के सुकुमार फफोले,—
आन कँपा दो इस झूले की रसिक रज्जु की फाँसी;
मेरी उत्कंठा को, सुन्दरि, डालो गलबहियाँ-सी;
क्वासि ? क्वासि ? प्यासी आँखों से बरस रहीं फुहियाँ-सी
आ जाओ मेरे उपवन में सजनि, धूप छहियाँ-सी
झुक-झुक, झूम-झूम, खिल जाओ हृदय ग्रन्थियाँ खोले,
आओ, बलिहारी जाऊँ, तुम झूलो आज हिंडोले।

जिला कारागार, गाज़ीपुर,
दिनाङ्क १२ दिसम्बर, १६३०

कह लेने दो

ओ मेरे प्राणों की पुतली,
आज तनिक कुछ कह लेने दो।

(१)

अहो, आज भर ही कहने दो
यह प्रवाह कुछ तो बहने दो,
संयम ! मेरी प्राण, रंच तो—
आज असंयम में बहने दो;
मौन भार से दबे हृदय को
कुछ मुखरित सुख सह लेने दो,
आज तनिक कुछ कह लेने दो।

(२)

तुम हो मम अस्तित्व-स्वामिनी,
मम मन-घन की स्फटिक दामिनी,
तुम मेरे कर्म्मठ जीवन की—
हो विश्रान्ति-प्रपूर्ण यामिनी;
मेरे इन उत्सुक हाथों को—-
अपने युग पद गह लेने दो
आज तनिक कुछ कह लेने दो।

(३)

मेरे प्राणों की आकुलता—
मेरे भावों की संकुलता—
कैसे व्यक्त करूँ ? किमि प्रकटे—
उच्छ्वासों की गहन विपुलता ?
तनिक देर तो अपने द्वारे—
मुझ जोगी को रह लेने दो !
आज रंच कुछ कह लेने दो।

(४)

मुझसे पूछो हो मैं क्या हूँ ?
स्वामिनि, मैं तो एक व्यथा हूँ;
मैं तव नयनों के दर्पण में—
तव सनेह प्रतिबिम्ब-कथा हूँ
मैं आँसू बन सोम भद्र सा—
बह जाऊँ तो बह लेने दो
आज रंच कुछ कह लेने दो।

रुन-झुन-झुन

रुन-झुन-झुन-झुन——रुनुन-झुनुन-झुन-रुनुन-झुनुन-झुन-रुनुन-झुनुन

(१)

मेरे लालन की पाँजनियाँ—

झुनुक रहीं मेरी आँगनियाँ;

औचक आकर, धीरे-धीरे,

सुन ले तू, मेरी साजनियाँ;

ना जानूँ कैसे पाया है यह धन अरी पड़ोसिन, सुन !

रुन-झुन-झुन-झुन-रुनुन-झुनुन ।

(२)

पाँजनियों की खन-खन से तन-मन में उठतीं झंकृतियाँ,

ठगी-ठगी-सी रह जाती हूँ लख-लख चरण-अलंकृतियाँ;

ललूा उठ उठ कर गिरता है,
धूल भरा, हँसता फिरता है;
लालन की इस अस्थिरता में,
थिरक रही जग की स्थिरता है;
आज विश्व की शैशवता मम आँगन आई बन निरगुन,
रुन-झुन-झुन-झुन-रुनुन-झुनुन ।

(३)

किलका मेरा लाल कि मेरे हिय में हुआ उजेला-सा;
रोया रंच कि विश्व हो उठा मेरे लिये अकेला-सा,
आँसू कण बरसाते आना,
लार-तार टपकाते जाना;
मेरे घर आँगन में आली,
रुदन-हास्य का भरा खज़ाना;
मेरे स्मरण गगन में गूँज रही है हलकी छुन-छुन-छुन,
रुन-झुन-झुन-झुन-रुनुन-झुनुन ।

(४)

बड़ी भाग्य शालिनी बनी मैं, हिय हुलसा मन मस्त हुआ,
मेरा अपना पन मेरे नन्हें स्वरूप में व्यस्त हुआ,
अस्त हुआ अस्तित्व अलग-सा;
वह मिट गया स्वप्न के जग-सा;
अली, लुट गई, री, मैं जब से
आया है यह कोई ठग-सा;
मुझे लूट ले चला किलकता, मेरा छोटा सा चुनमुन,
रुन-झुन-झुन-झुन-रुनुन-झुनुन ।

(५)

अपना पन खोकर पाया है मैंने अपना रूप नया,
उसे गोद में लेकर मेरा हुआ स्वरूप अनूप नया;
एक हाथ में अभिलाषा को,
दूजे में सारी आशा को;
बाँध मुट्ठियों में वह डोले,
करता सफल मातृ-भाषा को;
'माँ-माँ !' मुख से कहता है, पाँजनियाँ बजती हैं टुन टुन,
रुन-झुन-झुन-झुन-रुनुन-झुनुन ।

(६)

आज विश्व-शैशव अपनी गोदी में खिला रही हूँ मैं;
सुविगत, वर्तमान, मधुरस भावी को पिला रही हूँ मैं;
शत-शत संस्कारों की धारा,
मेरे स्तन से बही अपारा;
बनकर पयस्विनी करती हूँ,
मैं भविष्य-निर्माण दुलारा;
मेरे शिशु में प्रगटी मानवता की रुचिर पुरातन धुन,
रुन-झुन-झुन-झुन-रुनुन-झुनुन ।

जिला कारागार, फैजाबाद,
सन् १६३२

वह सुप्त अश्रुत राग

(१)

जग गया, हाँ जग गया वह सुप्त अश्रुत राग,
भर गया, हाँ, भर गया हिय में अमल अनुराग;
खुल गई, हाँ, खुल गई खिड़की नयन की आज;
धुल गई, हाँ, धुल गई संचित हृदय की लाज;
नेह रंग भर-भर खिलाड़ी नैन खेलें फाग,
जग गया, हाँ जग गया वह सुप्त अश्रुत राग !

(२)

दे रही धड़कन हृदय की,—द्रुत ध्रुपद की ताल,
हिचकियों से उठ रही है स्वर-तरंग विशाल;
आह की गम्भीरता में है मृदङ्ग-उमङ्ग,
निठुर हाहाकार में है चङ्ग का रण-रङ्ग;
रङ्ग-भङ्ग, अनङ्ग-रति का, दे गया यह दाग,
जग गया, हाँ, जग गया वह सुप्त अश्रुत राग !

(३)

प्यार-पारावार में, अभिसारिका-सी लीन—
वावरी मनुहार-नौका डुल रही प्राचीन;
क्षीण, बन्धन-हीन, जर्जर, गलित, दारु-समूह,—
पार कैसे जाय ? है यह प्रश्न गूढ़, दुरूह !
स्वर तरंगें बढ़ रही हैं, बढ़ रहा अनुराग,
जग गया, हाँ जग गया है सुप्त अश्रुत राग ।

(४)

युगल लोचन में मदिर रंग छलक उठता देख,
निठुर, तुमने फेर ली क्यों आँख एकाएक ?
सिहर देखो कनखियों से अरुण मेरे नैन,
सकुच शरमा कर कहो, कुछ 'हाँ-नहीं' के बैन;
भर रहा है, सजनि, फिर से यहाँ शुष्क तड़ाग,
जग उठा, हाँ, जग उठा है सुप्त अश्रुत राग !

(५)

मृदुल कोमल बाहु वल्लरियाँ डुलाकर, बाल,—
कठिन संकेताक्षरों को आज करो निहाल;
आज लिखवाकर तुम्हारे पूजकों के नाम,—
हृदय की तड़पन हुई है; सजनि, पूरन काम,
राग के, अनुराग के, अब खुल गये हैं भाग,
जग गया, हाँ, जग गया है सुप्त, अश्रुत, राग।

साक़ी !!!

साक़ी ! मन-घन-गन घिर आये, उमड़ी उमड़ी श्याम मेघ-माला,
अब कैसा विलम्ब ? तू भी भर भर ला गहरी गुल्लाला;

(१)

तन के रोम-रोम पुलकित हों,
लोचन दोनों अरुण-चकित हों;
नस-नस नव झंकार कर उठे;
हृदय विकम्पित हो, हुलसित हो;

कब से तड़प रहे हैं—ख़ाली पड़ा हमारा यह प्याला ?
अब कैसा विलम्ब ? साक़ी भर भर ला तू अपनी हाला ।

(२)

और ? और ? मत पूँछ; दिये जा,—
मुँह मागे वरदान लिये जा;
तू बस इतना ही कह, साक़ी,—
'और पिये जा ! और पिये जा !!'

हम, अलमस्त देखने आये हैं तेरी यह मधुशाला,
अब कैसा विलम्ब ? साक़ी, भर-भर ला तन्मयता हाला।

(३)

बड़े विकट हम पीने वाले,—
तेरे गृह आए मतवाले;
इसमें क्या संकोच ? लाज क्या ?
भर-भर ला प्याले पर प्याले;

हम-से वेढब प्यासों से पड़ गया आज तेरा पाला,
अब कैसा विलम्ब ? साक़ी, भर-भर ला तू अपनी हाला।

(४)

हो जाने दे ग़र्क़ नशे में,
मत आने दे फ़र्क़ नशे में;
ज्ञान-ध्यान-पूजा-पोथी के—
फट जाने दे वर्क़ नशे में !

ऐसी पिला कि विश्व हो उठे एक बार तो मतवाला।
साक़ी, अब कैसा विलम्ब ? भर-भर ला तन्मयता-हाला।

(५)

तू फैला दे मादक परिमल,
जग में उठे मदिर-रस छल-छल;
अतल-वितल-चल-अचल-जगत में—
मदिरा झलक उठे झल-झल-झल;
कल-कल-छल-छल करती हिय-तल से उमड़े मदिरा वाला,
अब कैसा विलम्ब ? साक़ी, भर भर ला तू अपनी हाला।

(६)

कूज़े-दो कूज़े में बुझने वाली मेरी प्यास नहीं,
बार-बार "ला ! ला !" कहने का समय नहीं अभ्यास नहीं !
अरे बहा दे अविरल धारा;
बूँद बूँद का कौन सहारा ?
मन भर जाय; जिया उतरावे,
डूबे जग सारा का सारा;
ऐसी गहरी ऐसी लहराती ढलवा दे गुल्लाला।
साक़ी, अब कैसा विलम्ब ? ढरका दे तन्मयता-हाला।

श्री गणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर
सन् १९३१

मैं तुमको निज गीत सुनाऊँ

कौन साध है अब मम हिय में, प्रियतम, तुमको क्या बतलाऊँ ?
केवल यह कि तुम्हें बिठलाकर सम्मुख, मैं निज गीत सुनाऊँ !
बनकर गायन-छन्द और ध्वनि, प्रिय मैं तव सम्मुख मँडराऊँ !!

(१)

इतना तो तुम भी जानो हो कि है प्रेरणा, सजन, तुम्हारी;—
जो कि हृदय में मेरे क्षण-क्षण छलक रही है रसकी झारी !
वरना, मुझ परवश का क्या बस ! क्या मेरी कविता बेचारी ?
छोड़ तुम्हारा अनुकम्पाश्रय, बोलो आज किधर मैं जाऊँ ?
आओ, मेरे सम्मुख, प्रियतम, मैं तुमको कुछ गीत सुनाऊँ ।

(२)

अब तक तो परोक्ष में मैंने अपने गीत गुनगुनाए हैं;
तुम्हें सुनाता, ऐसे मीठे अवसर मैंने कब पाए हैं ?
किन्तु सुना है मैंने, तुमको मेरे ये गायन भाए हैं;
इसीलिये यह अभिलाषा है कि मैं तुम्हारे सम्मुख गाऊँ;
यही साध है, मेरे प्रियतम, तुमको अपने गीत सुनाऊँ !

(३)

तुम बैठो मम सम्मुख अपना चीनांशुक पीताम्बर पहने,
और बनें अङ्गुलियाँ मेरी तव मंजुल चरणों के गहने;
तुम आकर्ण सजाए वेणी, विहँस-विहँस दो मुझे उलहने;
यही साध है, मेरे प्रियतम, तुम रूठो, मैं तुम्हें मनाऊँ;
और साध क्या है ? बस इतनी कि मैं तुम्हें निज गीत सुनाऊँ !

(४)

सुनकर मेरे गीत, कभी तो तव लोचन डब-डब भर आएँ;
और कभी मेरे नयनों से कुछ संचित बूँदें झर जाएँ;
यों मेरे संगीत रसीले तव मृदु चरणों में ढर जाएँ;
यही मनाता हूँ कि कभी मैं गायन-स्वन-लहरी बन छाऊँ;
यही साध है, प्रियतम मेरे, कि मैं तुम्हें निज गीत सुनाऊँ ।

(५)

करूँ तुम्हारे श्री चरणों में, गीत सुनाकर, जब मैं वन्दन,—
तब तुम सहला देना मेरे धवल केस, हे जीवन-नन्दन !
मैं प्राचीन, नवीन बनूँगा, होंगे विगलित मेरे बन्धन;
यह वर देना कि मैं सदा नव-नव गीतों से तुम्हें रिझाऊँ;
यही साध है, प्रियतम मेरे, कि मैं तुम्हें कुछ गीत सुनाऊँ ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक ११ दिसम्बर, १६४३

भीग रही है मेरी रात

भीग रही है मेरी रजनी; भीग रही है मेरी रात;
मेरे कुटी-कपाट अनावृत, ठिठुर रहे हैं मेरे गात;
भीग रही है मेरी रात।

(१)

यह अँधियारी रात हुई है अति काली कमली-सी आज;
ज्यों-ज्यों भीगी त्यों-त्यों भारी होती गई व्यर्थ, बिन काज।
अब दुर्वह है नैश भार यह; दुर्वह है यह ऋक्ष*-समाज,
कट जाती यह गहन यामिनी यदि तुम करते होते बात।
भीग रही है मेरी रात।

---

* ऋक्ष=तारे, ऋक्ष-समाज=तारक-समाज।

(२)

ना जाने कितनी लंबी है मेरी निशीथिनी निःसार ?
अभी और कितना ढोना है मुझको यह तम-भार अपार ?
क्या जानूँ कब फैलाओगे तुम अपना ज्योत्स्ना-विस्तार ?
हहर रहा है हिय, ज्यों हहरे अनिल-विकंपित पीपल-पात।
भीग रही है मेरी रात ।

(३)

क्या बतलाऊँ क्या होता है तम में एकाकी का हाल ?
मैं ही जानूँ हूँ कैसा है यह तमस्विनी-काल कराल !
है घनघोर अँधेरा चहुँ दिशि, काँप रहे हैं सब दिक्पाल;
काँप रही है अंबर भर में तारों की यह लप-झप पांत !
भीग रही है मेरी रात ।

(५)

तम-अर्णव में ही होता है क्या चेतन का प्रथम विकास?
क्या तम-आवरणावृत होकर तुम आओगे मेरे पास ?
क्या घनघोर तिमिर में ही तुम हुलस करोगे रास-विलास?
मैं समझा !! यह तम है मेरे नव-जीवन का उप-उद्घात !!!
तो फिर, भीगे मेरी रात ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक १२ दिसम्बर, १९४३

क्या है तव नयनों के पुट में

क्या है तव नयनों के पुट में ? बोलो दूर देश के वासी,
वे-लोचन-संपुट, जिनकी स्मृति रहती है हिय में अरुणा-सी ।

(१)

मैंने तो कितने ही संचित मन्वन्तर देखे हैं उनमें;
मैंने तो युग-युग के अपने सपने भी देखे हैं उनमें;
मैं तो जन्म-जन्म से ही, प्रिय, बँधा हुआ हूँ अंजन-गुण में !
मैंने उनमें निज को देखा; देखी अपनी लगन पियासी,
पर, उनमें क्या है ? कुछ तुम भी बोलो, मेरे अंतर-वासी ।

(२)

उन नयनों में मैंने देखी परम गहन चिन्तन की छाया;
उनमें मैंने अवलोकी है स्वात्मार्पण की ममता-माया;
मैंने देखा है : तव दृग में चिर सनेह वरदान समाया।
प्यार, रार, मनुहार भरित हैं; औ' उनमें है भरी उदासी !!
पर, तुम तो कुछ कहो कि क्या है? बोलो, दूर देश के वासी।

(३)

अहनिशि संग लिये फिरता हूँ, प्रिय, मैं उन नयनों की स्मृतियाँ,
जिनके स्मर-रस से हैं सिंचित मेरे जीवन की सब कृतियाँ;
वह स्मृति ही मेरी यात्रा की निर्धारित करती है सृतियाँ;
बना चुका हूँ मग-अवलंबन, उस स्मृति को, मैं सतत प्रवासी;
क्या क्या है तव दृग संपुट में? बोलो दूर देश के वासी।

(४)

मेरे प्रिय, अब कब तक होंगे उन नयनों के मंगल-दर्शन ?
हुलस करोगे कब, निज जन पर, उन नयनों से मधु-रस-वर्षण ?
कब फिर उन्हें निरख कर होगा मेरे रोम-रोम का हर्षण ?
कब तक, तुम तक पहुँचूँगा मैं निपट प्रवासी बारहमासी ?
क्या है तव नयनों के पुट में? बोलो दूर देश के वासी !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक १३ दिसम्बर, १९४३

मेरे प्रियतम, मेरे मंगल

मेरे प्रियतम, मेरे मंगल,
क्या हैं तुम्हें स्मरण वे कुछ क्षण, उस दिन, उस चपक तरु के तल ?
मेरे प्रियतम, मेरे मंगल !

(१)

अरुण-अरुण दिग-मणि पश्चिम के दिङ् मण्डल को चूम रहा था;
नीड़-सदन, गमनोत्सुक खग-कुल, उस क्षण नभ में घूम रहा था;
पीकर रंजित रवि-किरणासव यह अम्बर भी झूम रहा था;
उस दिन तुमने विहँस कहा था : तुम यों क्यों होते हो विह्वल ?
मेरे प्रियतम, मम मुद मंगल !

(२)

तुम्हें याद है ? वह चंपक भी सिहर उठा था वे तव स्वन सुन !
और चढ़ाए थे तव शिर पर उसने निज प्रसून कुछ चुन-चुन !!
सुन पड़ती थी वन से आती गायों की घंटी की टुन-टुन;
झूम रहा था सान्ध्य समीरण; नभ में रंजित थे बादल-दल;
मेरे प्रियतम, मम चिर मंगल !

(३)

उसी साँझ के आश्वासन की स्मृति पर है अवलंबित मम मन,
और कर रहा हूँ उसके बल, प्रिय, मैं अपना जीवन-यापन,
अब क्यों सतत करूँ मैं अपनी गहन वेदना का विज्ञापन ?
फिर भी बहते ही आते हैं बरबस मेरे आँसू अविरल !
मेरे प्रियतम, मम मधु मंगल !

(४)

यह अति अमिट भाल रेखांकन, यह परवशता, विधि-विधान यह,
इनसे कोई कैसे झगड़े ? मानव तो है अल्प-प्राण यह;
पर, मानव निज भाग्य-विधाता,—ऐसी ध्वनि पड़ रही कान यह !!
हाँ प्रिय, मैं अग-जग का स्वामी, जब तुम हो मेरे चिर संबल !!
मेरे प्रियतम, मेरे मंगल !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक १४ दिसम्बर, १९४३

हमारी क्या होली ? क्या फाग ?

हमारी क्या होली ? क्या फाग ?—यहाँ जब लगी हृदय में आग!

(१)

मत लाओ गुलाल भर झोरी, रहने दो यह रङ्ग,
किसी गुलाबी मुख की संस्मृति आएगी उठ जाग;
अरे, क्या होली ? कैसी फाग ?

(२)

मत कहना हम से कि खिले हैं वन-वन किंशुक फूल,
स्मृति में आ जाएगा उनका अरुण नयन मद-राग;
आज क्या होली ? कैसी फाग ?

(३)

मत आने दो अगर-अरगजा-चोवा-चन्दन-गन्ध,
यों उमड़ेगा मन-अम्बर में उनका अङ्ग-पराग,
यहाँ, क्या होली ? कैसी फाग ?

(४)

कह दो इस वैरिन कोकिल से कि वह रहे चुप साध;
वरना गूँज उठेगा हिय में उनका पञ्चम—राग;
अरे, क्या होली ? कैसी फाग ?

(५)

बड़े जतन से सुला सके हम स्मृतियों की यह भीर,
त्यौहारों के मिस न टटोलो, वे सब व्रण, वे दाग;
हमारी क्या होली ? क्या फाग ?

(६)

क्यों न भस्म कर देते हो ये सब झूठे पञ्चाङ्ग ?
रहे न होली और दिवाली, रहे न स्मृति-अनुराग !
अरे क्या होली ? कैसी फाग ?

(७)

काल-खण्ड ये मन्थ-दण्ड बन मथते हैं हिय-सिन्धु;
आँखों के तट तक आते हैं ये समुद्र के झाग;
आज क्या होली ? कैसी फाग ?

(८)

सुनो, हमारी तो सब ऋतुएँ हुईं प्रचण्ड निदाघ;
हाय ! हमारे लिये कहो तो, क्या फागुन ? क्या माघ ?
हमारी क्या होली ? क्या फाग ?

(९)

कोई अपना सजन निहारे; कोई खेले फाग;
कोई मसले निज हिय सन्तत; अपने-अपने भाग !
हमारी क्या होली ? क्या फाग ?

(१०)

कभी सँवारे थे हमने भी उनके कुन्तल-पुञ्ज,
वे संस्मरण आज आये हैं बनकर काले नाग,
कहो ? अब क्या होली ? क्या फाग ?

(११)

अपना मधुमय स्नेह भस्म कर बैठे हैं हम आज,
हमसे क्या होली का नाता ? हम आए सब त्याग;
हमारी क्या होली ? क्या फाग ?

(१२)

उनने अपना नाता तोड़ा; छोड़ी अपनी बान
टूट चुके हैं प्राण इधर भी, छूटे सब जप-जाग;
कहो, अब क्या होली ? क्या फाग ?

(१३)

हम समझे थे, है चिरस्थायी यह सनेह की डोर,
अब जो देखा तो वह निकली कोरा कच्चा ताग;
कहो अब क्या होली ? क्या फाग ?

(१४)

हम वन्दी, आजीवन वन्दी, पराधीन, तन क्षीण,
हम को कौन हुलस, हँस देगा दान अखण्ड सुहाग ?
हमारी क्या होली ? क्या फाग ?

(१५)

कर दो स्वाहा बची खुची यह अपनी साध, नवीन,
यों ही आए; चल दो यों ही; अब क्या रँग, रस, राग ?
अरे क्या होली ? कैसी फाग ?

जिला जेल, उन्नाव,
होलिकोत्सव
दिनांक २१ मार्च, १६४३

आ जा, रानी विस्मृति, आ जा

आ जा, रानी विस्मृति, आ जा;
मेरे इन मचले स्मरणों को आकर आज सुला जा,
आ जा, रानी विस्मृति, आ जा।

(१)

मेरे इस जीवन-पलने में पड़ी काल की डोरी,
इसमें बैठे कई संस्मरण करते हैं बरजोरी;
पल-पल मचल-मचल करते हैं मेरी माखन-चोरी;
तू आ, इन बालक स्मरणों को पलने में दुलरा जा,
आ जा, रानी विस्मृति, आ जा।

(२)

मेरे स्मरण निरे बच्चे हैं, भोले, अलबेले हैं,
हिय की ज्वलित आग से इनने सदा खेल खेले हैं;
इनके मारे मैंने अहनिशि अमित कष्ट झेले हैं;
अब तू इनको थपकी देकर कुछ लोरियाँ सुना जा--
आ जा, रानी विस्मृति, आ जा ।

(३)

यदि न सुला तू सकी किसी विधि ये संस्मरण सलौने,—
तो चिनगारियाँ फैल जाएँगी घर के कोने-कोने !
आग लगा लेंगे पलने में ये अति चंचल छौने;
इसीलिये कहता हूँ : तू आ, निंदिया बनकर छा जा;
आ जा, रानी विस्मृति आ जा ।

(४)

मैंने बहुत कहा है इनसे : विगत न सोचो, भाई,
मत सोचो पिय की मोहकता, उनकी सुघड़ निकाई;
पर, मेरी बातों को सुनकर आती इन्हें रुलाई;
ले, तू ही आकर अब इनका सब झगड़ा निपटा जा,
आ जा, रानी विस्मृति, आ जा ।

(५)

ये मुझसे कहते हैं : उनकी हैं मदमाती आँखें;
कहते हैं : भारी-भारी हैं दृग-खंजन की पाँखें;
कहते हैं : तुमको क्या यदि हम स्मरण-सुधा-रस चाखें ?
मैं कहता हूँ : री विस्मृति, इन पगलों को समझा जा;
आ जा, रानी विस्मृति, आ जा ।

(६)

कहते ही रहते हैं मुझसे उनकी सरस कहानी;
करते ही रहते हैं निशि दिन ये अपनी मनमानी;
कब तक सहन करूँ, री विस्मृति, मैं इनकी नादानी ?
आकर, इन्हें सुलाकर, इनसे मेरा पिण्ड छुड़ा जा;
आ जा, रानी विस्मृति, आ जा ।

ज़िला कारागार, उन्नाव,
दिनाङ्क २८ मार्च, १९४३

मत मुँह मोड़, अरे बेदरदी,

मत मुँह मोड़, अरे बेदरदी, काँटे तनिक निकाले जा;

(१)

रोम-रोम मम आज कण्टकित, हिय में शूल समाए हैं,
अमित थकित इन चरण-तलों में काँटे जाल बिछाये हैं;
जानें किस प्रतिकूल पवन में, ये कण्टक उड़ आए हैं,
शूल मयी जीवन-डगरी है, इसको आज सँभाले जा,
मत मुँह मोड़, अरे बेदरदी, काँटे तनिक निकाले जा।

(२)

देख टटोल हृदय को मेरे, हैं ये शूल घने कितने,
सोच रंच तो, क्या तू ही ने ये उपहार दिये इतने;
उपालम्भ कैसे दूँ मैं ? पर, बिना दिये भी तो न बने !
अरे, छोड़ कर जाता ही है तो तू तनिक विदा ले जा;
मत मुँह मोड़, अरे बेदरदी, काँटे तनिक निकाले जा ।

(३)

कुछ ले जा, कुछ दे जा, प्यारे, तू कुछ तो सौदा कर जा,
काँटे दिये, बिथा दी, हिय में अब उपहास और भर जा !
तू मुँह मोड़, दुआएँ मैं दूँ, मैं डूबूँ, औ' तू तर जा,
नाहीं के बदले श्रद्धांजलि मेरी अपरिमिता ले जा,
मत मुँह मोड़, अरे बेदरदी, काँटे तनिक निकाले जा ।

(४)

काँटों का इतिहास कहूँ क्या ? जब कि स्वयं मैं शूल बना,
और फूल की कथा कहूँ क्या ? तू कब मेरा फूल बना ?
मम शिर पर छाया बनकर कब, तेरा विमल दुकूल तना ?
जाता है ? जा; विरह ताप में मुझको खूब उबाले जा;
मत मुँह मोड़, अरे बेदरदी, काँटे तनिक निकाले जा ।

(५)

तुझे बुलाने मैंने भेजी श्वास-पवन-दूतियाँ कई;
पर, तू अटक रहा लख-लखकर कई मूरतें नई-नई;
मैंने अपनी प्रथा निबाही; तूने अपनी विधि निबही;
मैं देता ही रहूँ निमन्त्रण; औ' तू हँस-हँस टाले जा;
मत मुँह मोड़, अरे बेदरदी, काँटे तनिक निकाले जा।

(६)

मेरा जीवन, बनकर कन्दुक, आन पड़ा है तव कर में;
जो चाहे कर, कर में रख, या, फेंक इसे तू अम्बर में;
तेरे द्वारा क्षिप्त हुआ हूँ मैं इस निखिल चराचर में,
खेले जा तू इस कन्दुक से, इसको खूब उछाले जा,
पर, ओ निर्मोही, इसके ये काँटे तनिक निकाले जा।

जिला कारागार, उन्नाव,
दिनाङ्क ५ अप्रैल, १९४३

तुम नहिं जानत हो

अति गम्भीर बिथा या हिय की तुम नहिं जानत हो,
कसक अथोर, हँसी के पटतर, नहिं पहिचानत हो;
प्राणधन, तुम नहिं जानत हो।

(१)

हम जीवित हैं, चलत फिरत हैं, बोलि लेत हैं बैन,
तुम समुझत हो, हृदय हमारौ रंच नाहिं बेचैन;
कैसे कहें कि होति रहति है खटक हिये दिन रैन ?
अपनी बात कहत जब हम, तब तुम कब मानत हो ?
प्राणधन, तुम नहिं जानत हो।

(२)

हाय-हाय करिबे की हमने कबहुँ न सीखी बान;
बिथा, हँसी हू में, सुनि लेते जो तुम देते कान !
हँसि-बोई है रुदन हमारौ ! कहा करैं, रसखान ?
जब तुम नैंक न सुनत हमारी, निज हठ ठानत हो;
प्राणधन, तुम नहिं जानत हो !

जिला कारागार, उन्नाव,
दिनाङ्क ८ अप्रैल, १९४३
रात्रि १ बजे

तरुवर आज हुए अनुरागी

कल के ये वैरागी तरुवर आज हुए अनुरागी,
वर्णहीन, जो पर्णहीन थे, उन्हें नवल लौ लागी;
तरुवर आज हुए अनुरागी ।

(१)

कल तक जो सूखे-साखे थे, थे नंगे, भिखमंगे,
निरे ठठरियों-से लगते थे, दिखते थे बेढंगे,
थे जो ठूँठ, मूँठ-मारे, वे आज हो गए चंगे;
पतझड़ के झाड़ों में सहसा नवल रसिकता जागी,
तरुवर आज हुए अनुरागी ।

(२)

जिन्हें मिला था मरण-निमन्त्रण वे ही फिर से फूले;
मृत्यु-अङ्क में सोकर, फिर ये जीवन-झूला झूले;
डूब मरण-नद में, उतराए जीवन-सरिता-कूले;
मानो मृत्यु कराल कल्पना, चिर जीवन-रस पागी;
तरुवर आज हुए अनुरागी ।

(३)

सूखी शाखा, सूखी छिनगी, नव चिनगी-सी चमकीं;
अरुण-अरुण-सी दीप शिखाएँ डाली-डाली दमकीं;
ऊर्ध्व ग्रीव जीवन लख, छूटी त्रास-भावना यम की;
जागी जीवन की अनन्यता, सब दुश्चिन्ता भागी,
तरुवर आज हुए अनुरागी ।

(४)

यों आई किसलय-कोमलता; यों छाई हरियाली,
यों धाई सूखे में सरिता हहर-घहर ध्वनि वाली;
नाच उठीं नन्दित, निष्पन्दित तरु की डाली-डाली;
उपवन-विपिन-द्रुमों ने अपनी सकल अरसता त्यागी,
तरुवर आज हुए अनुरागी ।

(५)

आज वायु आकर कहती है उनसे सरस कहानी,
और ठठोली भी करती है वह उनसे मन-मानी;
यों जीवन की परम अमरता हम सब ने पहचानी;
यह अनन्त जीवन लख, बोलो, हम क्यों बनें विरागी ?
तरुवर, आज हुए अनुरागी ।

(२)

जीवन हो अशेष, या हो वह केवल अस्थिर माया,
वह ऋत हो, या निपट अनृत हो, सत् हो, या भ्रम-छाया,
इतना ही है अलम् कि हमने यह जीवन-कण पाया;
क्या मिल गई अमरता उसको, जिसने रो-रो माँगी ?
तरुवर आज हुए अनुरागी ।

जिला कारागार, उन्नाव,
दिनांक ११ अप्रैल, १९४३

धूमिल तव चित्र, प्राण,

शत-शत चुम्बन से है धूमिल तव चित्र, प्राण,
उस पर अंकित है मम विप्रलम्भ कल्प-मान
धूमिल तव चित्र, प्राण।

(१)

छवि को आधार बने कितने दिन बीत गए !
कितने ही ग्रीष्म गए, कितने क्षण शीत गए;
तुम बिन ये काल-खण्ड इतने विपरीत गए,
हम ये दिन काट चुके धरते तव रुचिर ध्यान;
शत-शत चुम्बन से है धूमिल तव चित्र, प्राण।

(२)

क्या बतलायें मन की क्या-क्या मनुहारें हैं ?
रसना पर ताले हैं; दृग में जल-धारे हैं !
हम बन्दी हैं; हम को घेरे दीवारें हैं
मन की मनुहारों का बोलो, प्रिय, क्या बखान ?
शत-शत चुम्बन से है धूमिल तव चित्र, प्राण।

(३)

आज, जब कि घूम रहा सर्वनाश-चक्र घूर्ण,—
आज, जब कि ममता के भाव हुए चूर्ण-चूर्ण,—
ऐसे क्षण क्यों कर हो स्नेह-साधना प्रपूर्ण ?
ऐसे क्षण हम कैसे गाएँ चिर प्रेम-गान ?
शत-शत चुम्बन से है धूमिल तव चित्र, प्राण।

(४)

जीवन में संचित थे कब ऐसे पुण्य, सजन ?
जिनके बल करते हम सफल अमल नेह-लगन ?
तिस पर, अब चल निकला निपट विकट क्रांति-व्यजन !
होकर हम विलग-विलग उड़ते हैं तृण-समान;
शत-शत चुम्बन से है धूमिल तव चित्र, प्राण।

(५)

तिनकों की क्या बिसात, जब मन्दर हों विचलित ?
मान व्यक्ति का कितना, जब हो सब देश दलित ?
ऐसे क्षण कैसे हो स्नेह कलित, प्रेम फलित ?
अमिय कहाँ ? जब कि यहाँ होता है गरल-पान ?
शत-शत चुम्बन से है धूमिल तव चित्र, प्राण ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक १० जुलाई, १६४३

तुम चिरकाल हँसो, फूलो

मेरी अर्ध मुकुलिते कलिके, तुम चिरकाल हँसो, फूलो,
मेरी सूखी-सी डाली पर तुम सन्तत झूला झूलो;
तुम चिरकाल हँसो, फूलो ।

(१)

इतने नव द्रुम छोड़ पधारीं इस दिशि विहँस, कुसुम रानी,
मेरी ये सूखी वल्लरियाँ सिहर उठीं नवरस सानी;
है कितना अमाप मम सुख, यह कैसे जतलाए वाणी !
तुमने विहँस मथा अन्तर तर, हृदय किया पानी-पानी;
चिर सुहाग दानिनि, मानिनि मम, मुझ पर सन्तत अनुकूलो;
तुम चिरकाल हँसो, फूलो ।

(२)

स्मरण रखो, ओ प्राण वल्लभे, तुम हो मम कुंकुम-रेखा;
तुम हो मम सिन्दूर-विन्दु, तुम मम भावना-चित्र-लेखा;
मैंने वहुत रात देखी है; दुर्दम अन्धकार देखा,
अब आईं तुम तिमिर-निकन्दिनि, अब मैंने प्रकाश पेखा;
माँग रहा हूँ केवल यह वर : तुम मुझको न कभी भूलो;
तुम चिरकाल हँसो, फूलो ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनाङ्क ६ अगस्त, १६४३

तुम इसे पहचानते हो ?

प्राण, अन्तर्यामी मम वेदना तुम जानते हो ?
ज्वाल जो यह जल उठी है, तुम इसे पहचानते हो ?

(१)

आग दी, तुमने, सजन, फिर, आग की यह चाह भी दी,
अग्नि-क्रीड़ा-प्रेरणा दी, अटपटी इक राह भी दी,
फिर दिये ये दाह्य साधन, और गहरी आह भी दी,
लो, लगी है आग, अब तुम व्यर्थ क्यों हठ ठानते हो ?
प्राण, अन्तर्यामिनी मम वेदना तुम जानते हो !

(२)

एक धागे में समूचे प्राण अटकाकर, हँसे तुम;
और, इन भव-बन्धनों में अवश-सा मुझको कसे तुम—
बोल उट्ठे : लो, निर्बल, इस बार तो अच्छे फँसे तुम !
हाँ फँसा हूँ; पर, मुझे क्यों खींचते, क्यों तानते हो ?
प्राण, अन्तर्यामिनी मम वेदना तुम जानते हो !

(३)

मृत्तिका के पात्र में है भड़क उट्ठी अमित ज्वाला,
यह नहीं है होलिका, प्रिय, यह नहीं है दीप माला,
जल उठा हूँ मैं स्वयं ! है मम चिता का यह उजाला;
मुस्कुराते हो ? इसे क्या खेल ही अनुमानते हो ?
प्राण, अन्तर्यामिनी मम वेदना तुम जानते हो !

जिला कारागार, उन्नाव,
दिनांक ११ नवंबर, १६४२

बिथा या हिय की बरनि न जात

बिथा या हिय की बरनि न जात,
छिन-छिन गिनत कलप शत बीते, अजहुँ न होत प्रभात;
बिथा या हिय की बरनि न जात।

(१)

अति अज्ञेय, अबेध तिमिर घन छाइ रह्यो चहुँ ओर,
उड़त-उड़त मन पंछी थाक्यौ; मिल्यौ न निशि कौ छोर;
हिय छायौ घन घोर अँधेरौ; कँपत प्राण की डोर;
कछु नहिं समुझि परत अब कितनी और बचि रही रात !
बिथा या हिय की बरनि न जात।

(२)

जबतैं सुरति सम्हारी तब तैं निरख्यौ तिमिर अपार,
कबहुँ न दामिनि रेख निहारी; लख्यौ न शशि सुकुमार;
कब लौं वहन करैगौ हिय या अन्धकार कौ भार ?
कब चमकौगे बाल अरुण-सम, पिय, तुम हँसत, सिहात ?
बिथा या हिय की बरनि न जात ।

(३)

यह कैसो अस्तित्व, प्राणधन, यह कैसौ रस-रास ?
जो तुम बिन इतने युग बीते सहत-सहत उपहास ?
का अजहुँ न पूरौगे अपने जन की हौंस-हुलास ?
बीतेंगे जीवन के ये छिन का यों ही अकुलात ?
बिथा या हिय की बरनि न जात ।

(४)

ललकि रह्यौ हिय दरस-परस कौं; मन है अस्त-व्यस्त;
अपनेई तैं मैं चिन्तातुर; मैं निज तैं संत्रस्त;
मैं बिछोह-निशि-तिमिरावृत, प्रिय, संभ्रम-निद्रा-ग्रस्त;
तुम, सपनेऊ में ना आवत, कबहूँ रात-बिरात,
बिथा या हिय की बरनि न जात ।

(५)

ऐसेंई खिल उठौ हिये में, जिमि सर में जल-जात,
बिहँसत, मुकुलित, लहरि-विकम्पित, हिलत-डुलत, इतरात;
रीझौ तुम्हीं; न निरखौ मो-तन, मेरी कौन बिसात ?
मैं नवीन ह्वै चल्यौं पुरातन, शिथिल ह्वै चले गात,
बिथा अब हिय की बरनि न जात ।

जिला कारागार, उन्नाव,
दिनांक २ दिसम्बर, १९४२

माघ-मेघ

(कलिंगड़ा)

(१)

अपर निशि काल में माघ के मेघ ये
निराहृत अतिथि-से आ गए री;
उमड़ घन घोर जल धार बरसा रहे ;
गा रहे अटपटा राग ये री— । अपर० ।

(२)

तड़ित विद्युत् छटा कटकटाती चली
कँप रही गगन वक्षस्थली री;
जग गई विगत पावस-व्यथा की शिखा
मेघ मल्लार स्वर गा गए री । अपर० ।

(३)

जटिल कृत कर्म्म की दुखद संस्मृति यहाँ—
रात्रि में ठिठुरती है, अली री;
पतित जलधार के सङ्ग बरसें उपल
जलद विपदा नई ढा गए री। अपर०।

(४)

टपक टप-टप चले विटप के अश्रुकण
मूक बिपदा मनो बह चली री;
दिशि-बधू छिप गई धूम-पट पहन कर
क्षितिज में अभ्र ये छा गए री। अपर०।

(५)

घोर सूची भेद्य घन-तिमिर चीरकर
स्फटिक चपला-चमकती भली री;
ज्ञान की ज्योति ज्यों प्रति-क्षण चमक—
दिखला रही कर्म्म के दाग़ ये, री। अपर०।

जिला कारागार, गाजीपुर,
दिनांक ११ फरवरी, १६३१

क्यों उलझे मन ?

निरख-निरख कर चहुँ दिशि तम घन, क्यों लरजे हिय ? क्यों उलझे मन ?
लख नभ-आँगन गहन तमोमय क्षण-क्षण क्यों अकुलाएँ लोचन ?

(१)

ये कज्जल के कोट भयानक उठे हुए हैं भू से नभ तक;
दुर्निवार यह घोर अन्ध तम घिरा रहेगा, बोलो, कब तक ?
क्यों अकुलाते हो मन मेरे ? देखो बाट प्रभा की अपलक !
हिय में भर उसाँस आशा की, गाओ भैरव के मंगल स्वन!!
निरख गहन, घनतिमिर-आवरण, क्षण-क्षण क्यों अकुलाएँ लोचन ?

(२)

आज ध्वान्त-आक्रान्त मेदिनी, आज दिशा दुर्दान्त तमोमय !
आज तिमिर के ये दल के दल पूर्ण कर चुके ज्योति पराजय !!
पर, क्या तुमनें नहीं सुनी है ज्योतिर्मय शंख-ध्वनि-जय-जय ?
लखो ! दूर, वह विभा आ रही श्यामा के तम-पट से छन-छन !
लख-लख वर्त्तमान यह तम घन, क्यों लरजे जिय ? क्यों उलझे मन ?

(३)

दूर नहीं; है, अरे, निकट ही वह प्रकाशमय, मंगलमय क्षण,
और, सदा ही तो होता है अरुणा और तमिस्रा का रण !
जो डूबे हैं आज तिमिर में, हुलसेंगे वे ही रज-कण-कण;
ये भूधर, यह भू, यह अंबर, सब फिर पाएँगे अपनापन,
निरख-निरख कर चहुँ दिशि तम घन, क्यो लरजे जिय ! क्यों उलझे मन ?

(४)

भूल गए क्या प्रथम प्रात का वह उल्लास-लास ? वह वैभव ?
वह अलिगण की गुन-गुन-गुन-गुन ? वे उत्फुल्लित, विकसित कैरव !!
तुम भूले क्या मुदित प्रभाती-गायन-रत द्विज-दल का कलरव ?
याद करो प्रथमा ऊषा के अनिलाञ्चल की रस मय सिहरन !!
स्मरण करो निज विस्मरणों का, करो आज गहरे अवगाहन !!!

(५)

फिर आएगी ऊषा हँसती; फिर होगा बिहान चिर सुन्दर;
फिर से नव भैरवी छिड़ेगी; फिर होगी पंखों की फर-फर;
फिर से अरुण छटा छाएगी, फिर होगा द्रुम-दल का मर्मर,
फिर से समुद बहेगा सन-सन-स-न-न-स-न-न जागरण-समीरण
लख अम्बर में तमावरण घन, क्षण-क्षण क्यों अकुलाएँ लोचन ।

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक २२ नवम्बर, १९४३

मेरे परिपन्थी

सूने दिक्-काल हुए मेरे परि पन्थी, प्रिय,
आज व्यर्थ हुई टेर मेरी लजवन्ती, प्रिय !

(१)

काल-धार, वाहित कर, मुझको ले चली खींच;
पटका है लाकर इस भीषण दिक्खण्ड बीच;
छूटे वे चरण, जिन्हें नयनों से सींच-सींच,—
निशि दिन ही अति पुलकित रहता था मेरा जिय;
सूने दिक्-काल हुए मेरे परिपन्थी, प्रिय !

(२)

उष्णोदक ढार-ढार सूख चले दृग चंचल,
पथराए हैं मम दृग पन्थ जोहते पल-पल,
यह त्वदीय अनुपस्थिति करती मम प्राण विकल,
हहराता है अहरह तुम बिन यह सूना हिय,
सूने दिक्-काल हुए मेरे परिपन्थी, प्रिय !

(३)

बँधकर तुम किसी अन्य जन की भुजपाशों में,—
भूले क्या आना मम स्मृति की उच्छ्वासों में ?
मरज़ी राउर की; पर, अब भी इन श्वासों में,—
करती है नाम स्मरण, यह मम रसना-इन्द्रिय,
सूने-दिक्-काल हुए मेरे परिपन्थी, प्रिय !

(४)

क्या जानें तुम अब हो किसके रस-रङ्ग-पगे ?
क्या जानें रीझ-रीझ किसके तुम हृदय लगे ?
इतना मैं जानूँ हूँ : मेरे दुर्भाग्य जगे !
तुम बिन हो चला सजन, जीवन निर्जन, निष्क्रिय !
सूने दिक्-काल हुये मेरे परिपन्थी, प्रिय !

(५)

यदि होता सम्मुख मैं, तो तुम कैसे जाते ?
बेड़ी बन जाते ये मेरे भुज अकुलाते !
मुझको विसरा सकते कैसे, तुम रस-राते ?
पर, अब क्या ? अब तो सब साध हुई मेरी प्रिय,
सूने दिक्-काल हुए मेरे परिपन्थी, प्रिय !

(६)

मेरे प्रतिपक्षी जो, साजन की चाह जिन्हें,—
वे क्यों मम निधि लूटें ? क्यों मम सौभाग्य छिने ?
लूटा यों मम सुहाग ! रंच न क्या दरद इन्हें ?
कुछ तो यों सोचते कि मैं हूँ नित वन्दी, प्रिय;
सूने दिक्-काल हुए मेरे परिपन्थी, प्रिय !

(७)

कौन, कहो, देगा यों अपना सौभाग्य-दान ?
दुष्ट दस्यु-दल का यों रख सकता कौन मान ?
पर, मन मोहन, तुम भी जग मोहन हो, सुजान;
अन्यों से स्वयं लुटे, वा जी ! वहु धन्धी प्रिय,
सूने दिक्-काल हुए मेरे परिपन्थी, प्रिय !

(८)

निज को यों लुटवा के, मुझको यों लुटवाया !
चरणाश्रित जन को यों चरणों से छुटवाया;
बोलो, यह नया चोर क्या ऐसी निधि लाया ?
जो यों तुम छोड़ चले, डाल गले फन्दी, प्रिय !
सूने दिक्-काल हुए मेरे परिपन्थी, प्रिय !

(९)

तुम्हीं कहो इस क्षण अब ढूढ़ूँ क्या अन्याश्रय ?
क्या जाऊँ हाट-बाट, करने फिर क्रय-विक्रय ?
प्रिय, अब तो है असह्य जीवन का ताप-त्रय !
हर-हर हहराती हिय होलिका हसन्ती*, प्रिय,
सूने दिक्-काल हुए मेरे परिपन्थी, प्रिय !

ज़िला कारागार, उन्नाव,
दिनांक ६ फरवरी, १९४३

* हसन्ती=अंगीठी

तव मृदु मुसकान, प्राण

शीतभीरु[1] सुमन सदृश तव मृदु मुसकान, प्राण,
जिससे उठ रही अमित, मन्द-मन्द, मधुर घ्राण !

(१)

फुल्ल प्रियक[2] सम लहरी तव कुसुमित साड़ी नव,
रम्य हेम पुष्पक[3] सम निखरा तव छबि-वैभव;
बकुल[4] सुमन-राशि सदृश, सौकुमार्य, प्रियतम, तव,
फैल रहा तव सौरभ पारिजात[5] के समान,
शीतभीरु सुमन सदृश, तव मृदु मुसकान, प्राण !

---

१ शीत भीरु=बेला, मल्लिका।
२ प्रियक=कदम्ब
३ हेम पुष्पक=चम्पा।
४ बकुल=मौलसिरी
५ पारिजात=हरसिंगार

(२)

लोल लचक मय कंपित तव शरीर-लतिका यह,—
मृदु मंजुल वंजुल[1] सम सिहर रही है रह-रह,
यूथिका[2] प्रसून झरें तव वचनों से अहरह;
बने सुमन रूप आज तुम मेरे प्रिय सुजान;
शीतभीरु कुसुम सदृश तव मृदु मुसकान, प्राण !

(३)

मैं शत-शत सुमन-राशि वारूँ, प्रियतम, तुम पर,
न्यौछावर है तुम पर मृदुल भाव, हे हिय हर;
नयनों पर बलि होने आए खंजन नभ चर,
नीलोत्पल दल सकुचे निरख ललित भ्रू-कमान;
निरुपम है, चिर-निरुपम तव मृदु मुसकान, प्राण !

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
दिनांक १२ अगस्त, १६४४

---

१ वंजुल=बेंत की लता   २ यूथिका=जूही

विहँस उठो, प्रियतम, तुम

मेरे सन्ध्या-पथ में विहँस उठो, प्रियतम, तुम,
अमित स्मिति छिटका दो मेरे निगमागम, तुम।

(१)

शांत हुई दिन की वह सनन-सनन शीत पवन,
घुमड़ रहे हिय-नभ में मम संचित मौन स्तवन;
नूपुर की झन-झन से भर दो मम शून्य श्रवण,
आओ, इस संध्या में पग धरते थम-थम; तुम,
मेरे इस तम-पथ में विहँस उठो, प्रियतम तुम।

(२)

आकर, इस संध्या को कर दो सिन्दूर दान;
मम अञ्चल-ओट दीप बन, विहँसो, अहो प्राण;
ग्रहण करो आकर मम सन्ध्या-वन्दन, सुजान;
हरण करो युग-युग का मेरा यह हिय-तम, तुम;
मेरे सन्ध्या-पथ में विहँस उठो, प्रियतम, तुम ।

(३)

दिन तो छोटा निकला, बीत गया वह यों ही;
वह कैसे बीता ? बस, बीता है ज्यों–त्यों ही;
पर, अब कुछ चेत हुआ,—सन्ध्या आई ज्यों ही;
करोगे न निशि-निबाह, क्या, मेरे सक्षम, तुम !
आओ इस सन्ध्या में मुसकाते, प्रियतम तुम ।

(४)

देखो, वह एकाकी सूना अश्वत्थ विटप—
शान्त हुआ; जो दिन में हहराता था कँप-कँप !
हूँ मैं भी ऐसा ही जैसा वह जड़ पादप !!
मुझे सुगति-दान करो, ओ मेरे अनुपम, तुम;
अमिता स्मिति छिटकाओ मम मग में, प्रियतम, तुम ।

(५)

खग कलरव निःस्वन है; नीरव है तरु मर्मर;
व्योम मौन; वायु शान्त; थकित सरित, सर, निर्झर;
बैठ चली गोधूली; मूक हुए हैं मम स्वर !
ऐसे क्षण मुरली में फूँको स्वर पंचम, तुम !!
मेरे नीरव हिय में स्वर भर दो प्रियतम, तुम !!!

केन्द्रीय कारागार, बरेली,
रात्रि, दिनांक १८ नवम्बर, १९४३

तू मत कूके कोयलिया, सखि,

मेरे हिय में टीस उठे हैं; तू मत कूके कोयलिया सखि,
श्वास रुँधी है; प्राण घुँटे हैं, तू कत कूके कोयलिया सखि ?
तू मत कूके कोयलिया, सखि ।

(१)

अमराई के घन झुरमुट में मगन-मगन मन बैठ रही, सखि;
तेरे आकुल पंचम स्वर से रस या विष की धार वही, सखि ?
ओ रस-सिद्धा विजन-विजयिनी, तूने मम-हिय-हार कही, सखि;
चेती है मेरी चिनगारी, तू कत कूके कोयलिया, सखि ?
तू मत कूके कोयलिया, सखि ।

(२)

तू क्या जानें निपट परभृता, इस जग के जंजाल, अरी सखि,
मैं क्या कहूँ हुए हैं क्या क्या अब तक मेरे हाल, अरी सखि ?
तू तो नित उड़-उड़ बैठी है हरित आम की डाल, अरी सखि;
तूने क्या, मैंने देखा जग, इसको छू के, कोयलिया, सखि,
तू मत कूके कोयलिया, सखि।

(३)

सुन तेरे स्वर, गात शिथिल मम, है उन्मन-उन्मन मम मन, सखि;
विस्मृति युत स्मृतियाँ उमड़ी हैं; हैं सालस शोणित कण-कण, सखि;
हूँ प्रयाण उन्मुख-सा मैं अब, हैं असह्य ये जग-जन-गन सखि;
कूक उठी तू बिना कहे; पर, तू क्यों चूके कोयलिया, सखि ?
तू मत कूके कोयलिया सखि ?

(४)

कुऊ-कुऊ के बैन सुनाकर क्यों भर रही निदाघ हिये, सखि !
मैं तो हूँ वैश्वानर-पायी; मैं बैठा हूँ आग पिये, सखि,
हरित कुञ्ज में छुपकर तूने ये अङ्गारे और दिये, सखि;
आग लगा अब बहा रही तू झोंके लू के, कोयलिया, सखि,
तू मत कूके कोयलिया, सखि;

ज़िला कारागार, उन्नाव,
दिनाङ्क ८ अप्रैल, १९४३

ठिठुरे हैं विकल प्राण

ठिठुरे हैं हाथ-पाँव, सब शरीर कम्पमान,
रोम-रोम कण्टक सम, ठिठुर गए विकल प्राण ।

(१)

शिलीभूत, पिण्डबद्ध, धमनी-गत रुधिर-धार;
घनीभूत श्वास-पवन, जड़ीभूत हिय-विचार;
अब तो है असहनीय विप्रयोग-शीत-भार,
मन्द स्मित-किरणों से विहँस करो प्राण-दान
ठिठुरे हैं विकल प्राण ।

(२)

मेरे प्रिय, मन्दादर† शीत-श्वास-पवन दूत,—
मत भेजो इस दिशि तुम; मैं हूँ अति पराभूत;
बरसाओ तुम न उपल, अनपेक्षा–घन-प्रसूत,
थर-थर-थर काँप रहा रहसि हृदय मम अजान,
ठिठुरे हैं विकल प्राण ।

(३)

काँव-काँव, टुँइँयँ-टुँइँयँ, बोल रहे काक-कीर;
चैँ-चुक-चुक करती यह काँपी खग-वृन्द-भीर;
शीत बाण बरसाता वहा सनन-सन समीर,
पीर भरे अन्तर में ठिठुर गये सरस गान;
सब शरीर कम्प मान ।

(४)

धन-गत यह पौष-तरणि क्षीण तेज, मानों मृत;
निष्प्रभ सा काँप रहा मन्द-मन्द, धूमावृत;
ऋतु-क्रतुकर सुकृत किरण आज हुई विकृत, अनृत;
ऐसे क्षण विहँस रखो दिनकर का गलित मान;
ठिठुरे हैं विकल प्राण ।

† मन्दादर = उपेक्षायुक्त

(५)

हवा, हहर; श्रवणों में कहती यह शीत वात :
तेरे प्रिय विमुख हुए, अब तेरी क्या बिसात ?
सकल मनोरथ तेरे, सपने हैं मनसि जात !
सच है क्या यह सब ? कुछ बोलो तो सुरस-स्नात !
ठिठुरे हैं विकल प्राण ।

जिला कारागर, उन्नाव,
दिनाङ्क ३१ दिसम्बर, १९४२

हम अनिकेतन

हम अनिकेतन, हम अनिकेतन,
हम तो रमते राम, हमारा क्या घर ? क्या दर ? कैसा वेतन ?
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन ।

(१)

अब तक इतनी यों ही काटी,
अब क्या सीखें नव परिपाटी ?
कौन बनाए आज घरौंदा
हाथों चुन-चुन कंकड़, माटी
ठाट फ़क़ीराना है अपना, बाघम्बर सोहे अपने तन,
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन ।

(२)

देखे महल, झोंपड़े देखे,
देखे हास-विलास मज़े के,
संग्रह के विग्रह सब देखे,
जँचे नहीं कुछ अपने लेखे;
लालच लगा कभी, पर, हिय में मच न सका शोणित-उद्वेलन,
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

(३)

हम जो भटके अब तक दर-दर,
अब क्या ख़ाक़ बनायेंगे घर?
हमने देखा: सदन बने हैं,—
लोगों का अपना-पन लेकर;
हम क्यों सनें ईंट-गारे में? हम क्यों बनें व्यर्थ में बेमन?
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

(४)

ठहरे अगर किसी के दर पर
कुछ शरमा कर, कुछ सकुचाकर
तो दरबान कह उठा—बाबा
आगे जा देखो कोई घर!
हम दाता बनकर बिचरे; पर हमें भिक्षु समझे जग के जन,
हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।

श्री गणेश कुटीर, कानपुर,
दिनाङ्क १ अप्रैल, १९४०
रात्रि १ बजे

वसन्त-बहार

आज सखि नवल वसन्त-बहार
कर रही मदिर भाव सञ्चार
आज सखि नवल वसन्त-बहार ।

(१)

हम-से मस्ताने नवीन हैं
सीखे करना प्यार,
अब तो उलट पलट जायेगा
जग आचार-विचार;
आज सखि नवल वसन्त-बहार,
कर रही मदिर भाव सञ्चार;
आज सखि, नवल वसन्त-बहार ।

(२)

सदा वसन्त हमारे हिय में,
पलकों में मधु-भार,
नयनों में हैं स्वप्न मिलन की
सुर्ख़ी और ख़ुमार;
आज सखि, नवल वसन्त-बहार,
कर रही मदिर भाव सञ्चार;
आज सखि नवल वसन्त-बहार ।

(३)

हम वासन्ती सतत सनातन
हम हैं स्नेहागार
इसमें क्या वसन्त की महिमा ?
यह है तव स्मर-सार;
आज सखि, नवल वसन्त-बहार,
कर रही मदिर भाव सञ्चार;
आज सखि नवल वसन्त-बहार ।

(४)

मेरे जीवन के तरुवर की
ओ कलिके सुकुमार,
यौवन-डाली पर हँस झूलो,
करो तनिक ऋतु-रार,
आज सखि, नवल वसन्त-बहार,
कर रही मदिर भाव सञ्चार;
आज सखि, नवल वसन्त-बहार ।

मृदु गल बहियाँ डाल विहँसती
बन जाओ गल-हार,
अब कैसी यह झिझक सलौनी ?
यह कैसा अविचार ?
आज सखि नवल वसन्त-बहार,
कर रही मदिर भाव-सञ्चार;
आज सखि नवल वसन्त-बहार ।

मिल गये जीवन-डगर में

आज बरसों बाद पीतम मिल गये जीवन डगर में,
मृत मनोरथ के सुमन ये खिल गये जीवन डगर में !

(१)

वे धुएँ के तूल-से छाए हुए थे सजल बादल,
झर रहा था गगन के हिय से मगन यौवन-लगन-जल;
उन दुखद रिम-झिम-क्षणों में
शून्य पंकिल पथ-कणों में
हार-से, मनुहार-से पिय मिल गए जीवन डगर में !

(२)

भर गया आकण्ठ हिय-तल, ललक उमड़ा नयन का जल
कर उठा नर्त्तन हृदय का कमल विकसित मुदित पल पल
उस सिहरते नीम नीचे
झुक दृगों ने चरण सींचे
नेह रस-वश अधर उनके हिल गये जीवन डगर में !
आज बरसों बाद पीतम मिल गये जीवन डगर में !

सन्ध्या-वन्दन

खड़े हुए हैं झुक लकुटी पर श्रमित-श्रमित पग धरते-धरते
सहसा क्षितिज निहार रहे हैं हम मन में कुछ डरते-डरते ।

(१)

यही गगन-पथ था न ? कह गए थे जिससे, प्रिय, तुम आने को ?
यह भी आज्ञा थी कि निहारें हम दश-दिशि तुमको पाने को;
और कह गये थे हमसे: इस क्षण स्वर भर ईमन गाने को;
लो, हम पन्थ निहार रहे हैं रोते, गाते, उमड़, सिहरते,
सहसा खड़े हो गये हैं हम, श्रमित-श्रमित पग धरते-धरते ।

(२)

अतुल वेदना भरे हृदय सम मौन हुई है सन्ध्या बाला;
खग-कलरव थम गया; अँज गया दिशि-दृग में अञ्जन अँधियाला;
ध्रुव मन्थर गति-मती सुर धुनी; लुप्त हो गया नभ-उजियाला;
हम कूल-स्थित, व्यथित-मथित-चित, लगन लगाए, हृदय हहरते,—
सहसा खड़े हो गए हैं हम श्रमित-श्रमित पग धरते-धरते।

(३)

गोधूली के अन्धकार ने भर-भर प्राणों में अश्रुत स्वर,—
ऐसी कुछ मुरलिका बजा दी; कम्पित है हृदय-स्तर थर-थर;
ज्यों-ज्यों तिमिर बढ़ेगा त्यों-त्यों होगा स्वर-संचार तीव्र तर;
यह झुट-पुटी वेदना होगी और घनी निशि ढरते-ढरते;
क्यों न पधारो स्वर लहरी पर तुम कोमल पग धरते-धरते ?

(४)

ये दो-तीन, चार-छः तारे तपक रहे हैं हिय के व्रण-से;
सोचो, क्या होगा उस क्षण जब गगन भरेगा हीरक-कण से;
अब भी अवसर है, मत विचलित होना, प्रिय, तुम अपने प्रण से;
सींचीं हैं सन्ध्या की गलियाँ हमने लोचन झरते-झरते,
इन तारक किरणों के झूले झूल उतर आओ हिय हरते।

(५)

वह तूली, जिसने सन्ध्या की मेघ-मण्डली थी रँग डाली,—
जिसने पँच-रङ्गी सत-रङ्गी रँग से रँग दी थी घन-जाली,—
वह भी, श्याम वेदना-रँग में डूब, बन गई है अँधियाली;
अब भी क्या न पधारोगे, प्रिय, गगन-यान से आज उतरते ?
देखो, हम तो तव स्वागत को खड़े हुये हैं डरते-डरते ।

श्री गणेश कुटीर, प्रताप, कानपुर,
दिनाङ्क २६ अगस्त, १६३६
रात्रि, सवा बारह बजे